वर्ष ३८] * * * [अङ्क १

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०२१, सितम्बर १९६४

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—द्वन्द्वातीत जडभरत [कविता]	११४१
२—कल्याण ('शिव')	११४२
३—एक महात्माका प्रसाद (श्री'माधव')	११४३
४—उदारता तथा विशालताका दर्शन (साधु-वेषमें एक पथिक)	११४४
५—अन्तरके शिवत्वको जाग्रत् और विकसित करें (श्रीराधेश्याम)	११४६
६—वामन और विष्णु (डा० श्रीवासुदेव-शरणजी अग्रवाल एम्० ए०, पी-एच्०डी०)	११४८
७—रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम (कविराज पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ)	११५२
८—सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा [कविता] (डा० श्रीहरिशंकरजी शर्मा डी० लिट्०)	११५७
९—मथुराजीकी यात्राका अनुभव (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)	११५८
१०—मधुर	११६०
११—कामके पत्र	११६२
१२—भगवान् ही अपने हैं	११६८
१३—दीपावली पर्व (श्रीरामप्रसादजी सनाढ्य, वेदान्ताचार्य, बी० ए०, एल्० टी०)	११६९
१४—त्याग [कहानी] (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)	११७२
१५—जीभपर अमृतका झरना (श्रीरामनाथ-जी 'सुमन')	११७५
१६—रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	११७८
१७—आत्मोद्धारके सरल उपाय (श्रद्धेय श्री-जयदयालजी गोयन्दका)	११८१
१८—हमारा लक्ष्य और साधन (ज्योतिर्विद् श्रीविश्वनाथजी मेहरोत्रा)	११८५
१९—विद्वान् संत-महात्माओंको दान (श्री-रामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्य-तीर्थ)	११८८
२०—आजके युगकी विशेषता—अर्थ एवं अधिकार (प्राध्यापक श्रीजे० पी० पाण्डेय, एम्० एस्-सी०, बी० एड्०, एल्-एल्० बी०, विशारद)	११९०
२१—भगवन्नामके चमत्कार (डा० श्रीगोकुल-प्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)	११९२
२२—आध्यात्मिक दृष्टिकोण धारण करनेसे सुख, शान्ति और समृद्धि (श्रीराम-चरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)	११९३
२३—लक्ष्यवेध [कहानी] (श्री'चक्र')	११९७
२४—पढ़ो, समझो और करो	१२००
२५—श्रीकृष्ण केवल प्रेम-रूप [कविता]	१२०४

चित्र-सूची

१—गोप्रेमी गोपाल	(रेखाचित्र)	मुखपृष्ठ
२—द्वन्द्वातीत जडभरत	(तिरंगा)	११४१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

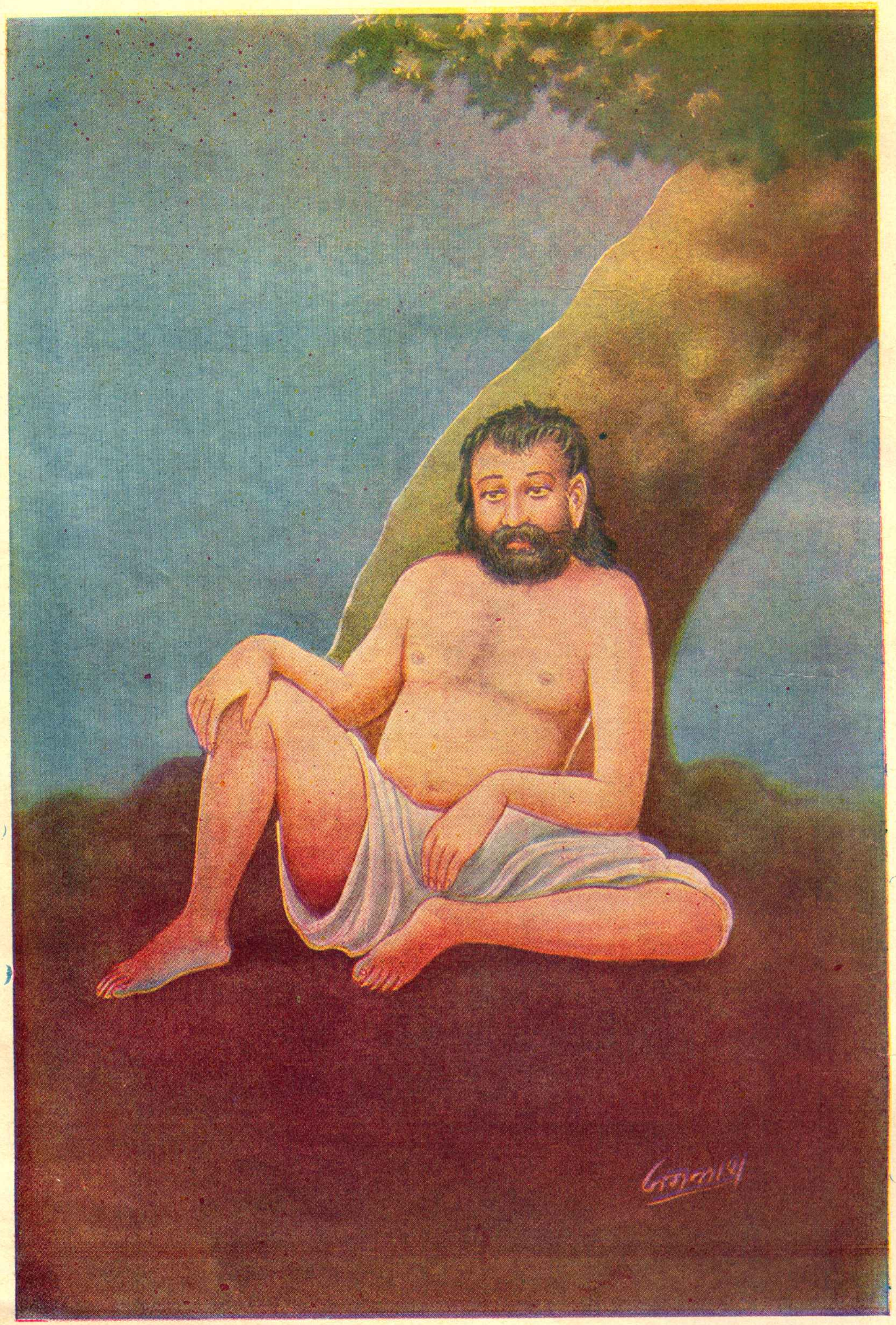

द्वन्द्वातीत जडभरत

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

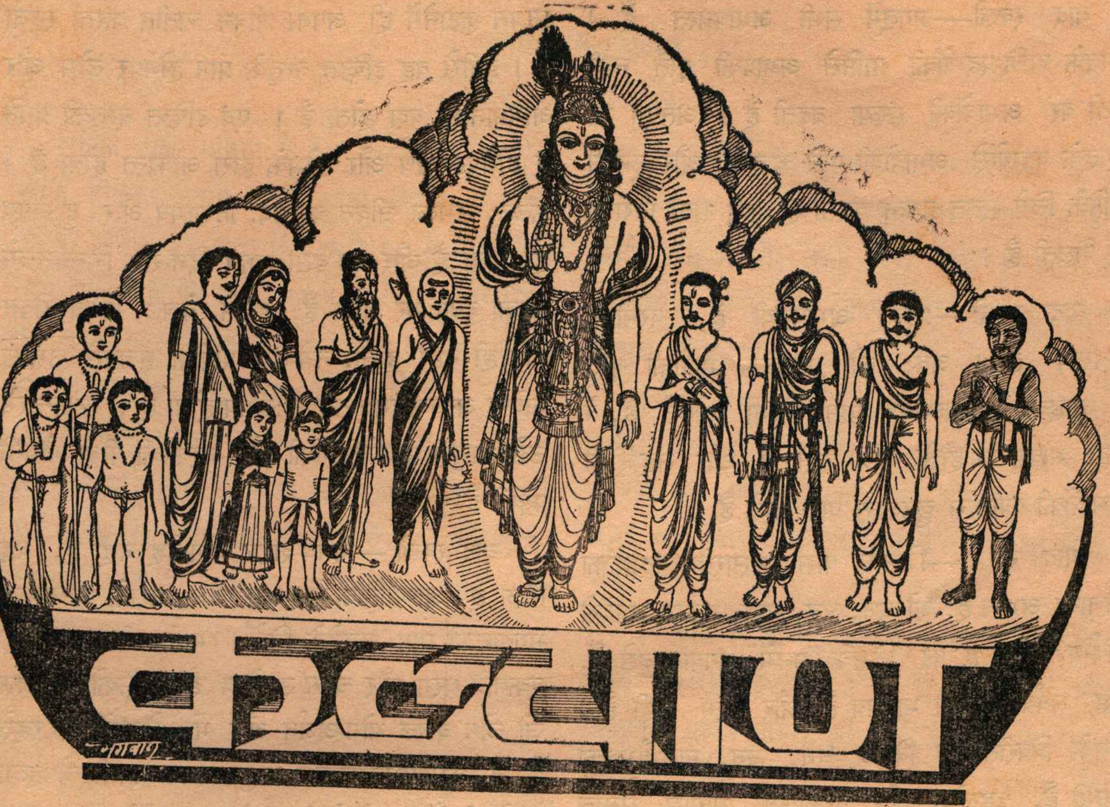

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर आश्विन २०२१, सितम्बर १९६४ { संख्या ९
पूर्ण संख्या ४५४

द्वन्द्वातीत जडभरत

शीत-उष्ण, सुख-दुःख, शुभाशुभ, जीवन-मरण, मान-अपमान ।
स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय द्वन्द्वोंमें समस्त नित समतावान् ॥
राग-द्वेष-कामके त्यागी विगत मोह-ममता-अभिमान ।
परम शान्त जडवत् आचारी ज्ञानमूर्ति जडभरत महान् ॥

याद रक्खो—जगत्‌में सभी अभावग्रस्त हैं। जगत्‌के प्राणि-पदार्थोंकी प्राप्तिसे अभावकी पूर्ति नहीं होती वरं अभावोंकी संख्या बढ़ती है। अतएव जो जगत्‌के पदार्थोंसे अभावोंकी पूर्ति चाहता और उनकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न करता है, उसे सदा निराशा ही मिलती है।

याद रक्खो—प्रकृति अभावमयी है, परमात्मा भावरूप हैं। अतः जो जागतिक भावोंकी पूर्ति न चाहकर परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं, वे सदा भावयुक्त होते चले जाते हैं और सहज ही अभावोंकी ज्वालासे छुटकारा पाते रहते हैं।

याद रक्खो—जिसके पास संसारके पदार्थोंका नितान्त अभाव है, जो धन, जन, मान, मकान आदिसे सर्वथा रहित है पर जिसके मनमें भगवान् बसे हैं, वह सर्वथा सर्वदा भावमय है और परम सुखी है। इसके विपरीत जो विपुल धन, जन, मान-वैभवका स्वामी है, इहलोक और परलोकके भोगोंसे सम्पन्न है, देवराज इन्द्रके पदको प्राप्त है; पर जो भगवान्‌को भूला हुआ है, वह सदा अभावग्रस्त है। अतः परम दुखी है। वह इन्द्रियोंके सारे भोग-सुखोंके प्रचुर मात्रामें होनेपर भी नित्य जलता रहता है। उसे कभी शान्ति मिल ही नहीं सकती; क्योंकि उसके पास जो कुछ है, सभी अपूर्ण, अनित्य और विनाशी है।

याद रक्खो—मनुष्यकी अशान्ति, चिन्ता, दुःख और उसके द्वारा होनेवाले पापोंमें मुख्य हेतु है संसारके प्राणि-पदार्थोंकी—भोगोंकी कामना ही। भोगोंकी कामना इसलिये है कि मनुष्य भूलसे भोगोंके द्वारा अभावकी ज्वालासे मुक्त होना चाहता है। इसीलिये वह नित्य नये प्रयत्नमें, नित्य नयी भोगलिप्सा और उसकी पूर्तिके साधन जुटानेमें ही अपना जीवन व्यतीत करता रहता है। इसीसे वह इच्छित वस्तुके प्राप्त होनेपर लोभ और अभिमानके वश होता है। एवं इच्छित वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर क्रोध और क्षोभके द्वारा आक्रान्त होता है। फलतः उसका जीवन कष्टमय, हिंसामय और दुःखमय हो जाता है और वह इसी प्रकार दिन-रात चिन्तानलमें जलता हुआ मर जाता है, इससे केवल मानव-जीवन व्यर्थ ही नहीं होता, नये-नये पापोंके संचयसे उसका भविष्य अन्धकारमय तथा दुःखमय होता है। जन्मान्तरमें उसे आसुरी पापयोनियोंकी और नरकोंकी पीड़ा भोगनी पड़ती है।

याद रक्खो—मानव-शरीर भोग-देह नहीं है, यह मिला है आध्यात्मिक साधना और उसके फलस्वरूप भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये। मानव-जीवनका यही एकमात्र परम और चरम उद्देश्य है। इसको भूलकर जो लोग केवल भोग-अर्जन और भोग-सेवनमें लगे रहते हैं, वे कामोपभोगपरायण आसुर-मानव अपनी तो हत्या करते ही हैं, दूसरोंको भी अपने आचरणोंके द्वारा आत्म-हत्यामें लगाकर नरकोंमें ढकेलते हैं।

याद रक्खो—तुम्हारे सच्चे हितैषी, बन्धु, आत्मीय, प्रिय, श्रेष्ठ वे ही हैं, जो तुम्हारे मनको भोगोंसे हटाकर भगवान्‌में लगाते हैं, विषयोंके प्रलोभनसे मुक्त करके भगवान्‌के चरणोंमें तुम्हारी आसक्ति बढ़ाते हैं। भोगोंमें लगाकर राग-द्वेष बढ़ानेवाले लोग, चाहे वे घरके हों, बाहरके हों, नेता हों, अधिकारी हों, मिनिस्टर हों, गवर्नर हों, आचार्य हों, साधु हों, महात्मा हों, भक्त हों या अपनेको तुम्हारा परम आत्मीय बतानेवाले हों, वस्तुतः तुम्हारे हितैषी नहीं हैं। वास्तविक अपने नहीं हैं। वे स्वयं भूले हुए हैं और तुम्हें भी भूलमें डाल रहे हैं। उनसे सावधान रहो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[यथाश्रुत यथागृहीत]

(संकलयिता—श्री'माधव')

रागकी यह महिमा है कि जिससे हो जाता है उसके दोषका दर्शन नहीं होता और बेचारा प्राणी उसीके अधीन हो जाता है जिससे राग है। राग ऐसा मधुर बन्धन है कि सुदृढ़ शृङ्खलामें बँधा प्राणी भले ही छूट जाय पर रागमें आबद्ध मनुष्य जबतक उसका त्याग न कर दे, छूट ही नहीं सकता। रागका बन्धन तो रागीको स्वयं तोड़ना पड़ता है। इस दृष्टिसे रागका अन्त करना प्रत्येक साधकके लिये अनिवार्य है। जिससे राग है उसका त्याग स्वाभाविक है। बेचारा रागी रागको अपनेमें भले ही सुरक्षित रक्खे और उसके कारण पराधीन बना रहे, पर जिससे उसका राग है वह तो रह ही नहीं सकता। भला ऐसी दशामें रागसे क्या लाभ ?

रागने ही भोगकी रुचि उत्पन्न की है। भोगकी रुचिने ही बेचारे प्राणीको भोगवासनाओंमें आबद्ध किया है। भोगवासनाओंने ही प्राणीको नित्य योगसे विमुख किया है और नित्य योगकी विमुखताने ही चित्तको अशुद्ध कर दिया है।

जो अपने ही हैं, अथवा जो अपनेसे भिन्न नहीं हैं उनसे प्रेम हो सकता है और जिनसे मानी हुई एकता है अथवा जो अपनेसे भिन्न हैं उनकी सेवा की जा सकती है, उनसे ममता नहीं की जा सकती। अस्तु, समस्त साधन दो ही भागोंमें विभाजित हैं—प्रेम और सेवा। सेवा उसकी जो पर है, प्रेम उससे जो पर नहीं है। समस्त कर्त्तव्य सेवाके प्रतीक हैं और विवेक प्रेमकी भूमि है। सेवासे विद्यमान रागकी निवृत्ति और सुन्दर समाजका निर्माण होता है। विवेकसे अमरत्वकी प्राप्ति तथा प्रेमका प्रादुर्भाव होता है। जिनकी सेवा की जाय उनसे ममता न हो और जिससे प्रेम किया जाय उससे कोई चाह न हो, तभी चित्त शुद्ध हो जाता है। ममतायुक्त सेवा और कामनायुक्त प्रेम तो चित्तको अशुद्ध ही करता है।

जिनसे नित्य योग है, जो सब प्रकारसे अपने ही हैं, उनसे प्रेम हो, पर किसी प्रकारकी चाह न हो। अचाह हुए बिना प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश ही नहीं होता और स्वार्थभावका अन्त किये बिना सेवा सिद्ध ही नहीं होती।

चित्तकी शान्ति तो वास्तविक विश्राममें है। विश्राम तीन प्रकारसे उपलब्ध होता है—(१) वर्तमान कार्यको पवित्र भावसे पूरी शक्ति लगाकर लक्ष्यपर दृष्टि रखकर करनेसे, (२) विवेकपूर्वक चाहरहित होनेपर और (३) विश्वासपूर्वक अनन्तकी अहैतुकी कृपाके आश्रित होनेसे। विश्रामकालमें चित्त स्थिर, शान्त तथा शुद्ध तो हो ही जाता है, उसके अतिरिक्त आवश्यक शक्तिका विकास भी होता है। ऐसा कोई सामर्थ्य है ही नहीं, जिसका उद्गम-स्थान विश्राम न हो। 'श्रमसे सामर्थ्यका सद्व्यय हो सकता है और विश्रामसे आवश्यक सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है'—इस दृष्टिसे श्रमके अन्तमें विश्राम अपेक्षित है अथवा यों कहो कि विश्रामसे ही श्रमकी उत्पत्ति होती है और विश्राममें ही श्रम विलीन हो जाता है; क्योंकि श्रमके आदि और अन्तमें विश्राम ही है। इस रहस्यको जो साधक जान लेता है वह बड़ी ही सुगमताके साथ चित्तको शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर लेता है। चित्तके स्वस्थ, शान्त होनेपर किसी भी दशामें न तो शान्तिभङ्ग होती है और न

अशुद्धि आती है और चित्तको जिसमें लगना चाहिये उसमें वह स्वभावसे ही लग जाता है और जिससे हटना चाहिये उससे हट जाता है; अथवा यों कहो कि प्रवृत्तिकालमें चित्त अनासक्त और निवृत्तिकालमें चिन्मय जीवनमें विलीन हो जाता है। इतना ही नहीं; आगे-पीछेका व्यर्थ चिन्तन सदाके लिये मिट जाता है। प्रत्येक दशामें शान्ति, प्रसन्नता तथा निर्भयता सुरक्षित रहती है। ॐ आनन्द आनन्द आनन्द।

उदारता तथा विशालताका दर्शन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

अनन्तकी इस सृष्टिमें मानव-समाजके अन्तर्गत चार प्रकारके अन्तःकरणवाले व्यक्ति दीख पड़ते हैं—कृपण, अनुदार, उदार और विशाल। इन्हींको विद्वानोंने अधम, निकृष्ट, मध्यम और उत्तम शब्दोंसे सम्बोधित किया है। मानव-आकृतिमें कुछ ऐसे भी राक्षसी और पशु-स्वभावके व्यक्ति देखे जाते हैं जो अकारण ही दूसरोंको कष्ट देते हैं, हानि पहुँचाते रहते हैं; यहाँ उनकी चर्चा न कर हमें परमेश्वरकी उन विभूतियोंका मनन करना है जिनके व्यवहारमें उदारता और विशालताका दर्शन मिलता है। उदार मतिवाले मानव स्वाधिकारगत सुन्दर, पवित्र, अनूठी और प्रिय वस्तुका सुपात्र अथवा अभाव-पीड़ितको दान देते हैं, उनके हृदयमें उदारताके साथ जब विशालता आती है तब सुपात्रको दान देने, दीन-दुखीकी सहायता करनेके साथ-ही-साथ वे कुपात्र, पतित और दलितको यथास्थान आश्रय भी देते हैं। अनुदार मनुष्य मिली हुई वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्यका भोग करते हैं। कृपण व्यक्ति तो भोग भी नहीं कर पाते, वे तो प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यके अभिमानी बने रहते हैं तथा धन-संचयके लोभी होते हैं। उदारमतिवाले मानव प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यद्वारा दूसरोंका हित करनेमें तत्पर रहते हैं; किसीकी निन्दा, अनादर या अपमान करना तथा कठोर वाक्य कहना उन्हें महान् दुःखदायी दीखता है। निन्दा करनेवालोंकी निन्दा न करना, बुराई करनेवालोंकी बुराई न करना, अपने प्रति अपराध करनेवालेको क्षमा कर देना, किसीकी निन्दा अथवा दोष-चर्चा सुनकर मौन रहना उदार मतिवाले सज्जनका सहज स्वभाव होता है।

उदारताके साथ हृदयमें विशालता आनेपर मानवमें दिव्यता आ जाती है। वह बुराई करनेवालोंकी भी भलाई करता है, निन्दकोंमें भी गुण-दर्शन करता है, वह दानी-निरभिमानी होनेके साथ ही सभी प्राणियोंमें एक सत्‌चित्‌-स्वरूप आत्माका अनुभव करते हुए कहीं भी घृणा, द्वेष और हिंसा न करते हुए सभीके प्रति दया, करुणा और स्नेह-सम्मान-दानके लिये सावधान रहता है। कृपण मनुष्य पशुके समान लोभादि पाशोंसे बँधा रहता है, अनुदार मनुष्य आसुरी प्रकृतिसे दबा रहता है। उदार मतिवालेमें मानवताका दर्शन मिलता है तथा विशाल हृदयवाला पुरुष दिव्य महात्मा-पद प्राप्त करता है। कृपण अन्धा होता है, वस्तु पकड़नेके अतिरिक्त उसके द्वारा जो कर्तव्य है, वह उसे नहीं दीखता। अनुदार व्यक्ति मन्द दृष्टिवाला होता है, उसे भोगजनित सुख प्रतीत होता है, पर उसका परिणाम नहीं दीखता। उदार मतिवाला पुरुष दूरदर्शी, दीर्घदर्शी तथा परिणामदर्शी होता है तथा विशाल हृदयवाला महामानव सत्यदर्शी-आत्मदर्शी होता है। उसकी बुद्धि आत्मामें स्थिर होती है, उसकी प्रीति सब प्रकार परमात्मासे ही होती है। कृपण व्यक्ति विशेषरूपसे लोभी-मोही होता है; अनुदार मनुष्य अधिकतर विलासी, आसक्त तथा अभिमानी होता है; उदार मानव संयमी, त्यागी तथा दैवीसम्पत्तियुक्त दानी और विवेकी होता है और उदारताके साथ विशालता आनेपर वही पुरुष निष्काम प्रेमी और ध्यानी होता है। भोगी रहते कोई उदार नहीं हो पाता। धन आदि वस्तुओंके लोभसे उनकी दासता, विलासिता और लोभकी

वृद्धि होती है तथा व्यक्तियोंके संयोग-भोगसे मोह-ममता तथा आसक्ति दृढ़ होती है। अधिकतर पदाधिकारकी सीमामें मानके भोगसे अभिमान-अहंकार बढ़ता जाता है, किसी प्रकारके भोगमें आसक्त प्राणीको परिणामका प्रायः ज्ञान नहीं होता।

धन, भोग और मानकी तृष्णा अच्छे-अच्छे बुद्धिमानों और विद्वानोंको दरिद्र बनाये रखती है। धनकी तृष्णामें मनुष्य अंधा बना रहता है, उसे धनके अतिरिक्त धर्म और ईश्वरका ज्ञान नहीं रहता; इसी तरह पदाधिकारके मदमें मानकी तृष्णा अहंकारको इतना स्थूल बना देती है, उसमें इतनी जड़ता आ जाती है कि वह अपने आपको पदाधिकारके अतिरिक्त कहीं झुका नहीं पाता, नमनशीलता—कोमलता रह ही नहीं जाती। अनुदार भोगीमें उदारता, सहिष्णुता, गम्भीरता, सात्त्विक प्रसन्नता, निर्भरता, निश्चिन्तता तथा क्षमाशीलता और प्रीति आदि दैवी गुणोंका आविर्भाव नहीं होता। कुसंग एवं कुसंस्कार ही हमें मोही, लोभी, अभिमानी तथा कामी बनाते हैं। सुसंग तथा सुसंस्कारके प्रभावसे हम उदार, निरभिमानी, निष्काम प्रेमी तथा विशाल हृदयवाले बन सकते हैं।

जितने अंशमें हममें मानवताका विकास हुआ है, उतने अंशमें हम साधक हैं। साधक ही सिद्धि प्राप्त करता है। आत्मनिरीक्षण करनेपर यह दीखता है कि हम साधकोंके जीवनमें प्रायः ऐसे अवसर आते रहते हैं जिनके सदुपयोगसे हम अपने-आपमें आसुरी स्वभावका दमन करके दिव्यता धारण कर सकते हैं; पर अनुदारताके कारण इस सुन्दर निर्माणसे हम वञ्चित होते आ रहे हैं। अनुदार होनेके कारण ही हम दूसरोंके तिलमात्र दोषको ताड़ बनाकर देखते-दिखाते हैं, दूसरोंकी निन्दा करते मन नहीं भरता; जिससे द्वेष हो जाता है उसकी अपकीर्ति, अपमानकी कल्पनामात्रसे हमारे मनमें बहुत संतोष होता है। अनुदार होनेके कारण ही हम साधक कहलाते हुए सेवा, त्याग, प्रेमकी साधनासे विमुख रहकर स्वार्थ, राग और द्वेषकी पुष्टि करते आ रहे हैं। अनुदार होनेके कारण ही हमारे द्वारा अनेकों दानके अवसर खो दिये गये। जहाँ क्षमा करना था, वहाँ क्रोध करते हुए हम अपराधी बन गये; जहाँ सहन करना आवश्यक था, वहाँ हम उत्तेजित होकर जो न कहना था वह कहते रहे; जहाँ प्रसन्न और शान्त रहकर अपने द्वारा प्रसन्नता और शान्तिका वातावरण बना सकते थे, वहाँ खिन्न तथा क्षुब्ध और अशान्त होकर अपने निकटवर्तियोंको अपनी विषाक्त भावनाओंसे हम प्रभावित करते रहे।

गुरु-विवेकद्वारा यह समझमें आया कि कृपण होना तथा अनुदार होना आसुरी प्रकृतिको पुष्ट करना है और उदारमति तथा विशाल हृदयवाला होना जीवनको ईश्वरमय अर्थात् दिव्य बना लेना है। संसारमें ऐसा कौन मनुष्य है जो दूसरोंसे अपने लिये उदारता और विशालताकी अपेक्षा न रखता हो। जब हम किसी प्रकारके अभावसे पीड़ित होते हैं तब उसकी पूर्तिके लिये किसीकी उदारतापर ही अवलम्बित होते हैं; जब हमसे कोई पाप या अपराध बन जाता है तब दण्ड न चाहते हुए उदारतापूर्वक क्षमाकी ही याचना करते हैं; जब कभी हम सभी ओरसे तिरस्कृत होते हैं तब हमारी आँखें किसी उदार और विशाल हृदयकी खोजमें दौड़ने लगती हैं।

यद्यपि कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य अपने-आपमें उदारता और विशालता लानेके लिये स्वतन्त्र है तथापि प्रत्येकको इन ईश्वरीय गुणोंकी महत्ताका ज्ञान नहीं है। दैवी उदारता तथा विशालताका दर्शन उस पतिव्रता सती नारीमें मिलता है जिसकी बुद्धिमें प्रेमपात्र पतिदेवके लिये सर्वस्वका दान ही परम कर्तव्य दीखता है और जिसके हृदयमें पतिके पतित होनेपर भी घृणा, द्वेषादि विकारोंके लिये स्थान नहीं मिलता। इस दैवी उदारताका तथा विशालताका परिचय किसी स्वामिभक्त अथवा देशभक्त सेवकमें भी मिलता है। जिसने

सेव्यकी सेवा करते हुए अपना सब कुछ दे डाला है और किसी प्रकारकी प्रतिकूलता तथा अपवादके आनेपर सेवासे मुख नहीं मोड़ा है। कोई भी मानव परमेश्वरके इन दिव्य गुण—उदारता और विशालताकी उपासना बुद्धि और हृदयसे करते हुए महात्मा-पद प्राप्त कर सकता है। कोई भी सद्गृहस्थ इनकी उपासनासे सद्गति प्राप्त कर सकता है। कोई भी साधक इन्हें धारण कर सिद्ध हो सकता है। कोई भी नेता केवल उदार तथा विशाल हृदयके द्वारा ही जन-जनपर नेतृत्व स्थापित करते हुए सेवाके कठोर धर्ममें पूर्णत्व प्राप्त कर सकता है। किसी भी मनुष्यको परस्पर किसी भी सम्बन्धीसे उतने ही अंशमें तृप्ति मिलती है, उतने ही अंशमें सुख मिलता है जितने अंशमें उदारता और विशालताका सुयोग होता है।

किसी भी अनित्य वस्तुसे लोभ तथा किसी व्यक्तिसे मोह और अधिकारका अभिमान तथा राग-द्वेषके रहते उदारता अथवा विशालता पूर्ण नहीं हो पाती। परापेक्षी सुखोंके प्रति आसक्ति, परदोष-दर्शन, असहिष्णुता, कठोरता, अदूरदर्शी बुद्धि, विवेककी कमी, असत्संग, तृष्णा, भय तथा क्रोध आदि विकार जबतक स्थान पाते रहते हैं तबतक उदारता और विशालता पूर्ण नहीं होती। पापसे बोझिल मनुष्य हृदयको उदार और विशाल नहीं बना पाते। पुण्योंके संचित होनेपर उदारता तथा भगवत्कृपासे विशालता आती है। सात्त्विक श्रद्धा और सरल विश्वाससे बुद्धि तथा हृदय शुद्ध होता है। शुद्धके स्मरण, चिन्तन और ध्यानसे शुद्धि आती है। हमें शुद्ध—पवित्रका ही स्मरण, चिन्तन और ध्यान करना चाहिये।

अन्तरके शिवत्वको जाग्रत और विकसित करें

गोस्वामी तुलसीदासजीके मनमें एक बड़ी मधुर, एक बड़ी मङ्गलमयी कामना थी भगवान् श्रीरामके निर्मल गुणोंके गायनकी। भगवान् श्रीरामके निर्मल गुण अनन्त हैं, उनका निर्मल चरित्र अथाह है, उनका निर्मल स्वभाव अवर्णनीय है। उस अवर्णनीय निर्मलताके वर्णन करनेकी मङ्गलकामना गोस्वामीजीके मनमें बार-बार आने लगी और मनमें बार-बार आने लगी इसी उद्देश्यसे कि 'राम कथा जग मंगल करनी।' रामकी कथासे जगका मङ्गल होगा, जन-जनके मनके मैलका नाश होगा। पावन उद्देश्यसे प्रेरित होकर भी तुलसीदासजीमें रघुपतिके चरित्रको कहनेका साहस नहीं हो रहा था। कहाँ तो अपार चरित्र और कहाँ सांसारिक बुद्धि! पद-पदपर गोस्वामीजीको अपनी लघुता, अपनी दीनताका स्मरण होने लगा। इसीलिये—

समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥

गोस्वामीजीके मनमें संकोच अवश्य था, पर कामना तो मङ्गलमयी थी, जग-मङ्गलकी भावनासे ओत-प्रोत थी। उन्होंने भगवान् भवानी-शंकरका स्मरण किया, उन्हें प्रणाम किया, उनकी स्तुति की, उनसे विनती की और उनका प्रसाद पाकर परम चावभरे चित्तसे श्रीरामचरितका वर्णन आरम्भ किया।

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिन दानी॥
सो उमेस मोहि पर अनुकूला। करिहिं कथा मुद मंगल मूला॥
सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित चाऊ॥

भगवान् शिवकी कृपासे गोस्वामी तुलसीदासजीमें ऐसी सुमतिका विकास हुआ, जिसके फलस्वरूप वे श्रीरामचरितमानसके कवि कहलाये। श्रीरामचरितमानस ऐसा ग्रन्थ है जो पुण्य-रूप है, पापहारी और कल्याणकारी है, विज्ञान-भक्तिको देनेवाला और माया-मोह-मलको हटानेवाला है। ऐसे 'मानस'की रचना की

तुलसीदासजीकी शिवमयी कामनाने और ऐसे 'मानस' की रचना हुई भगवान् शिवकी कृपाके आश्रयसे ।

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरित मानस कबि तुलसी ॥

भगवान् शिवका आश्रय लेनेसे तुलसीदासजीके अन्तरका जागा हुआ 'शिव' सशक्त हो उठा और उनकी लेखनीसे शिवकारी 'मानस'की रचना हुई। जो शिव गोस्वामी तुलसीदासजीके अन्तरमें था, वही प्रत्येक नर-नारीके अन्तरमें है। प्रत्येक मानवके मनमें उसी शिवका निवास है। हम प्रत्येक उसी ईश्वरके अंश हैं।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

ईश्वरके अंशरूप होनेके कारण सभीके मनमें मङ्गल-कामना उठती है, पर चेष्टाओंमें उतर नहीं पाती। तुलसीदासजीके समान जाग्रत् होकर भी कोई-न-कोई भय या दुर्बलता, बाधा या प्रलोभन अथवा असुरता उसको अभिव्यक्त नहीं होने देती। किंतु भगवान् रामसे की गयी प्रार्थना सम्पूर्ण बाधाओंको दूर करके मङ्गल-कामनाको अभिव्यक्त होनेका अवसर देती है। कहीं-कहीं तो यह शिवत्व सोया ही रहता है, जगता भी नहीं। किंतु हम भगवान् रामके अंश हैं, जिन अनन्त गुणोंसे वे सम्पन्न हैं, वे गुण अंशरूपमें हममें भी वर्तमान हैं। श्रीरामचरितमानसमें आरम्भसे अन्ततक—

धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर ॥

—भगवान् रामके अनन्त गुणोंका वर्णन है, उनके सारे-के-सारे गुण किसी-न-किसी अंशमें हमारे अंदर भी हैं। वे गुण यदि सोये हैं, उनको जाग्रत् करें और यदि जग उठे हैं, उनको विकसित होने दें। जिस दिन जिस क्षण हमारी रुचि होगी कि हमारा जीवन मङ्गलकर हो, हमारी चेष्टाएँ स्नेह-सनी हों, पड़ोसीके प्रति प्यार हो, सभीके प्रति प्रीति हो, उसी दिन उसी क्षण भगवान् राम उस रुचिको पूर्ण कर देंगे। वे अपने सेवक, अपने आश्रितपर अत्यधिक प्रीति और ममता रखते हैं। भगवान् रामने कहा है—ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे वे अपने जनको नहीं दे सकें।

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी ॥
जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें ॥

हम अपने अन्तरकी भावनाओंको उन्मुक्त करें। 'स्व'के सीमित दायरेको तोड़ दें। हम यह कामना करें कि हमारी चेष्टाएँ, हमारा जीवन सभीके लिये मङ्गलकारी हो, स्नेहपूर्ण हो। भगवान्के मनसे अपने मनका संस्पर्श होने दें, भगवान्की संनिधिमें अपने जीवनको आने दें। अवश्य ही हमारे बाहर-भीतरका सारा जीवन भगवदीय गुणोंसे भरपूर हो जायगा। भगवान् रामके पावन स्पर्शको पाते ही जड अहल्या सचेतन हो गयी। भगवान् रामके हाथमें आते ही कठोर धनुष कोमल हो गया। भगवान् रामके सहवाससे वनके वासियोंका क्रूर स्वभाव मृदुल हो गया। भगवान् रामकी शक्तिसे सम्पन्न होकर साधारण वानर-भालू अजेय हो गये। भगवान् रामकी छायामें विभीषणकी असुरता दिव्यतामें परिणत हो गयी। क्या जड, क्या चेतन, क्या पशु और क्या मनुष्य, भगवान् रामका पावन संस्पर्श पाते ही उनका रामत्व जग उठा, उनका शिवत्व साकार हो गया और सभी-के-सभी स्वयंके लिये तथा संसारके लिये मङ्गलकारी हो गये।

भगवान्के उसी पावन संस्पर्शको प्राप्त करनेकी कामना हम करें, स्नेहिल स्पर्श होने दें, विन्दुका सिन्धुसे सम्मिलन होने दें। विन्दु सिन्धु ही हो जायेगा। सिन्धुके गुण विन्दुमें सिन्धुवत् उमड़ पड़ेंगे। जिस प्रकार भगवान् रामके शील और स्नेहसे राजा दशरथका राजमहल, अवधकी नगरी, दण्डकारण्यका प्रदेश, दक्षिणकी भूमि सुरभित हो गयी, सभी सुन्दर हो गये, उसी प्रकार हमारे अन्तरका शिवत्व जाग्रत् और विकसित होकर सारे परिवारको, पड़ोसको, प्रदेशको, देशको सुरभित और सुन्दर बना देगा। जाग्रत् सूर्यसे विश्व प्रकाशित

और विकसित पुष्पसे वाटिका सुरभित होती ही है। शिवत्वसे विश्वमें दिव्यता विकसित होगी और असुरता विनष्ट होगी, प्रेम विजयी होगा और मलिन कामना विजित होगी। हमारे अन्तरका शिवत्व, हमारे जीवनका रामत्व जाग्रत् हो, विकसित हो—इसकी कामना करें, भगवान् रामसे इस मङ्गलकामनाके लिये प्रार्थना करें। अवश्य भगवान् राम इस मङ्गलकामनाको पूर्ण करेंगे, हमारे जीवनके माध्यमसे मङ्गल-कार्य करेंगे और हमारा राममय जीवन सारे जगत्को शिवमय बना देगा। चारों ओर मङ्गलका प्रकाश मङ्गलकी सुरभि छिटक जायेगी।

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी)

वामन और विष्णु

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल)

वामनपुराणके अध्याय ३१ में वामनके जन्म लेनेकी कथा है। ब्रह्माने उपस्थित होकर बाल-नारायणकी स्तुति की और जय-स्तोत्रका पाठ किया, जिसमें अनेक बार 'जय' शब्द आया है। यह उस प्रकारका विशेष स्तोत्र था, जिसमें 'जितम्' शब्दका कई बार उच्चारण किया जाता था। अतएव इसका नाम 'जय-स्तोत्र' पड़ा (वा० ३० । १८–३१)। विष्णु प्रसन्न हुए और उन्होंने ब्रह्माको वचन दिया कि वे असुरोंके पराभव तथा देवोंकी जयमें सहायता करें और इन्द्रको त्रिलोकीके अधिपति-पदपर स्थापित करें। तदनन्तर वामनने वैदिक ब्रह्मचारीका रूप धारण किया और देवोंने उन्हें विविध उपकरण दिये—जैसे कृष्ण मृगचर्म, दण्ड, कमण्डलु, उपवीत, कुश, आसन, पीताम्बर और वस्त्र-युगल। वेद एवं सांख्य-योग आदि शास्त्र वामनकी स्तुति करनेके लिये उपस्थित हुए। वामनने पल्लीकी चारों दिशाओंमें अपने तेजसे सबको आक्रान्त करते हुए समेट लिया। अन्ततः वे राजा बलिकी यज्ञभूमिमें आये।

वामनरूपमें नारायणकी उपस्थितिका गुह्य प्रभाव समस्त यज्ञभूमि और असुरोंपर छा गया। बलिने व्यामोहित होकर शुक्राचार्यसे पूछा कि 'हे आचार्य! क्या कारण है कि पृथ्वी पर्वत और समुद्रके साथ क्षुब्ध हो रही है? क्या कारण है कि अग्नि असुरोंद्वारा दिये हुए यज्ञभागको स्वीकार नहीं कर रही है।' शुक्राचार्यने उत्तरमें कहा कि स्वयं भगवान् नारायण वहाँ उपस्थित हुए हैं, इससे शक्तिका ह्रास हो गया है। शुक्रने बलिको सावधान किया कि वह दानके लिये किसीकी छोटी-सी याचनाको भी स्वीकार न करें। इस सलाहकी बलिके मनपर एक बहुत बड़ी उदात्त प्रक्रिया हुई। उसने कहा कि 'यदि यज्ञभूमिमें मुझसे कोई शिरोदान भी माँगेगा तो उसे स्वीकार करनेमें मुझे हिचक न होगी।'

यज्ञेऽस्मिन्यदि यज्ञेशो याचते मां जनार्दनः।
निजमूर्द्धानमप्यस्मै दास्याम्येवाविचारितम्॥
(वा० ३१ । २३-२४)

स मे वक्ष्यति देहीति गोविन्दः किमतोऽधिकम्।
नास्तीति यन्मया नोक्तमन्येषामपि याचताम्॥
(वा० ३१ । २४-२५)

यहाँ बलिने दानकी प्रशंसा की और कहा कि 'उनके राज्यमें धर्मका प्रचार दानरूपी बीजका ही फल था।'

(दानबीजफलम्)

मद्राज्ये नासुखी कश्चिन्न दरिद्रो न चातुरः।
नाभूषितो न चोद्विग्नो न प्रसादविवर्जितः॥
हृष्टस्तुष्टः सुगन्धी च तृप्तः सर्वगुणान्वितः।
जनः सर्वो महाभाग किमुताहं सदा सुखी॥
एतद्विशिष्टमत्रासं दानबीजफलं मया॥
(वा० ३१ । २७–२९)

एतद्बीजवरं दानबीजं पतति चेद् गुरो।
जनार्दने महापात्रे किं न प्राप्तं ततो मया॥
(वा० ३१ । ३०)

उपभोगाच्छतगुणं दानं सुखकरं स्मृतम्।
(वा० ३१ । ३१)

दानबीज-फल इस नये शब्दकी ओर जो गुप्तकालमें प्रचलित हुआ, ध्यान देना योग्य है। उस समय कल्पना की गयी कि विभिन्न पुण्यकर्मोंके बीज यदि जीवनकी भूमिमें बोये

जायँ तो उनसे विभिन्न पुण्यफलोंका जन्म होता है। ब्रह्म-पुराणमें इन पुण्यफलोंकी सूची दी गयी है, जिसमें दानबीज-फलका भी उल्लेख है, जैसे—

१—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका महाफल।
२—तपका फल।
३—सर्वदान-फल।
४—सर्वयज्ञ-फल।
५—तीर्थयात्रा-फल।
६—गुरुसेवा-फल।
७—देवताराधन-फल।
८—स्वाध्याय-फल।
९—नानाव्रत-फल।
१०—नानाशास्त्र-फल।
११—अहिंसादि-फल।
१२—सर्वातिवाञ्छित-फल।
१३—ब्रह्मचर्य-फल।
१४—गार्हस्थ्य-फल।
१५—वनवास-फल।
१६—संन्यास-फल।
१७—इष्टापूर्ति-फल।
१८—अन्यशुभ-कर्म-फल (ब्रह्मपु० २७। ७२—७७)

प्रत्येक फल अपने-अपने वृक्षपर फलता है, जिसके लिये उपयुक्त बीज बोना आवश्यक है। इसका मूल विचार यह था कि भारत कर्मभूमि है, वहाँ इन सब पुण्यफलोंके बीज जीवनकी सचाई है। अतएव उस समय भारतके विषयमें कहा गया है कि उसमें सर्वबीज-फल देखे जाते थे।

तदेतद् भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तमाः।
(ब्रह्म० पु० २७। ६६)

उन्हींमेंसे दानरूपी एक बीजका यहाँ उल्लेख है, जिसके फलस्वरूप सारे राज्यमें सुख-समृद्धि छा गयी। बलिने यह विचार प्रकट किया कि दानरूपी बीजको नारायणके हाथोंमें बो दिया जाय तो उससे सहस्रगुणी फल-निष्पत्ति उत्पन्न होगी।

एतद्बीजवरं दानं बीजं पतति चेद् गुरो।
जनार्दने महापात्रे किं न प्राप्तं ततो मया॥
(वामन० ३१। ३०)

बलिने अवसरके अनुकूल अपने व्यक्तित्वको उदार बनाते हुए कहा कि 'उसका परम सौभाग्य था कि नारायण स्वयं उसके यज्ञमें पधारे।' जब विष्णु वामनरूपमें आये तब बलिने हर्षोत्फुल्ल भावसे उनका स्वागत किया। अनेक विधिसे उन्हें अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित की और बहुत-सी दान-दक्षिणा दी।

बलिकी इस विनम्रतासे वामनने हँसते हुए यह याचना की—'हे राजन्! मुझे अपनी अग्निशालाके लिये तीन पैर पृथ्वी चाहिये। ये स्वर्णरत्नादि आप अपने याचकोंको दीजिये।

ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम्।
सुवर्णग्रामरत्नादि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम्॥
(वामन० ३३। ४९)

बलिने आश्चर्यसे कहा कि 'तीन पैर भूमि तो कुछ भी नहीं है। मैं आपको सहस्र पैर भूमि दे सकता हूँ।' वामनने उत्तरमें कहा कि 'उनका उद्देश्य केवल तीन पैर पृथ्वीसे ही पूरा हो जायगा।' उसपर बलिने उनकी प्रार्थना स्वीकार की। जैसे ही दानके संकल्पका जल वामनके हाथमें डाला गया, उन्होंने अपना विराट्रूप प्रकट किया।

पाणौ तु पतिते तोये वामनोऽभूदवामनः।
सर्वदेवमयं रूपं दर्शयामास तत्क्षणात्॥
(वामन० ३१। ५३)

विष्णुके त्रिविक्रमरूपमें सब देवोंका अन्तर्भाव है, जैसे—सूर्य और चन्द्र उनके नेत्र हैं, द्युलोक मस्तक है और भूमि पैर हैं। अनेक यज्ञ उनका शरीर है और सूर्यकी रश्मियाँ उनके केश हैं। सब नक्षत्र उनकी दृष्टि हैं। अर्थात् विराट्-रूपकी दृष्टि अनन्त अपार आकाशमण्डलमें भरे हुए दूरतम नक्षत्रमण्डलोंको देखती है। अवान्तर दिशाएँ उनकी भुजाएँ और दिशाएँ उनके श्रोत्र हैं। दो अश्विनीकुमार उनके श्रवण हैं। वायु उनकी नासिकाका प्राण है। धर्म उनका मन है, सत्य उनके वाक् हैं, सरस्वती जिह्वा है, देवमाता अदिति ग्रीवा है। सभी विद्याएँ उनके वलय (भुजबंद) हैं। त्वष्टा और पूषा उनकी दो भौंहें हैं। वैश्वानर अग्नि उनका मुख है। परब्रह्म उनका हृदय है। मुनि कश्यप उनके पुंस्त्व हैं। वसु उनका मेरुदण्ड है। मरुद्गण शरीरकी संधियाँ हैं। रुद्र वक्षःस्थल हैं। महार्णव उनके धैर्य या विधृति है। गन्धर्व

उनके उदर हैं। वे देव सर्वज्योति और महान् तपकी मूर्ति हैं। देवोंके देव ब्रह्मका उत्तम तेज प्रादुर्भूत हुआ। वेद उनके शरीरकी कुक्षि और महायज्ञ उनके जानु (घुटने) हैं। भगवान् विष्णुके सर्वदेवमय रूपको देखकर महाबली दैत्य चकित रह गये। विष्णुने अपने उस महाकायरूपसे सब असुरोंका हनन किया और त्रिलोकीको जीतकर इन्द्रको राजा बनाया—

जित्वा लोकत्रयं कृत्स्नं हत्वा चासुरपुंगवान्।
पुरंदराय त्रैलोक्यं ददौ विष्णुरुरुक्रमः॥
(वामन ३१। ७०)

तदनन्तर वामनने प्रसन्न होकर बलिको वरदान दिया कि 'वे सावर्णि नामक आठवें मन्वन्तरमें इन्द्र-पदवी धारण करें और उस समयके आनेतक वे पातालमें राज्य करें।'

वामन और विष्णुकी कथाका भी उल्लेख ऋग्वेदमें पाया जाता है और उसीको पुराणोंने अपना लिया। विष्णुका महान् पराक्रम तीन पैरोंसे तीन लोकोंको नापना है।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूळ्हमस्य पांसुरे।
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥
(ऋ० १। २२। १७–१९)

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथ्वीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥
(ऋ० १। १५४। २–४)

यः पार्थिवानि त्रिभिरिद्विगामभिरुरुक्रमिष्टोरुगायाय जीवसे॥
(ऋ० १। १५५। ४)

यह विश्व गतिसे मापित हुआ है और गतिका प्रतीक पाद या विक्रमण है। विश्वकी रचना त्रिकमूलक है। अतएव इसे विष्णुके तीन चरणोंमें समाविष्ट कहा गया है। जो विश्वका रचनात्मक बल है, उसीका त्रेधा विन्यास त्रेधाविश्व है। विश्वमें जो अनेक प्रकारके त्रिक हैं, उनमेंसे ही एक त्रिलोकी है। प्रतीकोंकी उसी शृङ्खलामें तीन देव, तीन अग्नियाँ, तीन गुण, तीन पुरुष, तीन वेद आदि हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव—ये त्रिदेव विश्वके उस त्रेधा-स्वरूपके प्रतिनिधि हैं। उनके बिना यहाँ किसी कार्यका संचालन सम्भव नहीं। यह वैदिक विद्याका मौलिक आधार था और विष्णुके त्रेधा चरण-विन्यासका संकेत इसी ओर था।

त्रिविक्रम विष्णुके इस प्रतीकमें प्राण या हिरण्यगर्भ ही मुख्य शक्ति है। जो विराट् विश्वमें गति, आगति और स्थितिमें स्पन्दनका मुख्य हेतु है और जो व्यष्टि-केन्द्रमें प्राण, अपान, व्यानके समंचन, प्रसारण या संकोच-विकासका हेतु है। शतपथ-ब्राह्मणमें प्राणकी यही परिभाषा दी गयी है। (**प्राणो वै समंचन प्रसारण, श० ब्रा०**)।

इससे इस स्पन्दनको आना-जाना (**प्रेत्यै एत्यै**, यजुर्वेद २७–४३) भी कहा गया है। इसे ही शतपथमें **प्रेति च एति च** कहा है—यही केन्द्रबहिर्मुखी और केन्द्राभिमुखी गति है, जो केन्द्रके प्रतिष्ठा-तत्त्वपर संतुलित होती है। आगति और स्थितिके सम्मिलनसे विष्णुके तीन पद बनते हैं—

वामनो ह विष्णुरास (श० ब्रा० १। २। ५। ५)
स हि वैष्णवो यद् वामनः (श० ब्रा० ५। २। ५। ४)
वैष्णवो वामनः (श० ब्रा० १३। २। २। ९)
वैष्णवा वामनम् आलभन्ते (तै० ब्रा० १। २। ५। १)

जो वामन है, वह नाभि, हृदय एवं केन्द्र है और जो विराट् है, वह महिमा है। वामन आभ्यन्तर और महिमा बाह्य रूप है। जो भी सृष्टि-पदार्थ है, वह चाहे एक लघुकोश परमाणु अथवा महान् नक्षत्र है। अथवा स्वयं विराट् ब्रह्माण्ड ही सबके जीवन या प्राणका नियम एक समान है। वामन और विष्णुका नियम अणु और महान् दोनोंके लिये एक-सा है। सबका स्रोत अदृश्य और सूक्ष्म होता है एवं उनका दृश्य रूप महिमा भाव या विराट् रूपमें व्यक्त होता है।

विष्णुके तीन चरणोंके बिना अथवा गति-तत्त्व या स्पन्दनके बिना कोई भी अव्यक्त भाव व्यक्तरूपमें नहीं आ सकता। अतएव सबके लिये यही नियम है कि प्रत्येक वस्तु विष्णुके आदेशके अनुसार अपने-अपने धर्ममें प्रतिष्ठित होती है। अर्थात् सबसे गति, आगति और स्थितिका नियम पिरोया हुआ है।

विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि (ऋ० १। १६४। ३६)

यह त्रेधा गति देश और कालमें सत्य है। यह पृथ्वी,

अन्तरिक्ष और देशके और भूत, भविष्य, वर्तमान कालके त्रेधा विभाग है।

लोक-सृष्टिमें जिसे हम पृथ्वी कहते हैं, भौतिक सृष्टिकी संज्ञा है और वह भौतिक मर्त्यलोककी संज्ञा है। द्यौ अमृतदेव तत्त्वकी संज्ञा है और अन्तरिक्ष द्युलोक और पृथ्वी इन दोनोंकी संधि है, जिसे हम चेतनाका मध्यबिंदु कह सकते हैं। अर्थात् मर्त्यभावापन्न है, उसमें चेतना नहीं है और द्युलोक केवल अमृतदेवोंका लोक है। उसमें भौतिक अभिव्यक्ति नहीं है; किंतु अन्तरिक्षमें दिव्य अमृतकी भौतिक धरातलपर अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक प्राणी अन्तरिक्षका ही रूप है, जिसमें द्यौ पिता और पृथ्वी माताके अंश मिलते हैं।

असुरोंके राजा बलि पृथ्वीके अधिपति हैं। विष्णु तीन चरण न्यासके लिये उन्हींके पास जाते हैं। बलि नामसे ही स्पष्ट है कि वह गति या विकासके तत्त्वको जकड़कर रखना चाहता है। अतएव जबतक बलयति गति उन्मुक्त भावमें न आवे तबतक सृष्टि नहीं हो सकती। पृथ्वी मातृत्वका प्रतीक है। वह सीमित पार्थिव पिण्डकी सूचक तो है ही, किंतु उसके अतिरिक्त समस्त ब्रह्माण्ड या लोक-लोकान्तरोंकी जो माता है, वह भी पृथ्वी ही है। विष्णु या गति-तत्त्व या (स्पन्दन) के बिना वह पृथ्वी फलवती नहीं होती। पुराणोंमें विष्णुको भूदेवीका पति कहा है। अथवा भूदेवीको विष्णुकी पत्नी माना है। इसका अभिप्राय यह है कि नारायणके बिना पृथ्वीकी सत्ता नहीं है। विश्वकी मातृत्व-शक्तिका विष्णुके तीन चरण-न्यास या गतितत्त्वसे संयोग होना ही चाहिये। सर्वप्रथम वामनरूपधारी विष्णु अग्निकी यज्ञशालाके लिये तीन पैर पृथ्वी माँगते हैं। (**ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम्**) (वामन० ३१। ४९)

विष्णुका यज्ञ समस्त विश्व है। यज्ञकी वेदी समस्त पृथ्वीके विस्तारकी द्योतक है (**इयं वेदिः परमन्तम् पृथिव्याः** ऋ० वे० १। १६४। ३४)। भ्रातृत्वकी शक्तिको असुरोंके विघ्नसे मुक्त करनेके लिये विष्णुके वामनावतारकी आवश्यकता है। यज्ञकी तीन अग्नियाँ विष्णुके तीन चरण-न्यासके प्रतीक हैं।

ऋग्वेदमें वामन और विष्णुका उल्लेख करते हुए वामनको युवा कुमार और विराट् विष्णुको बृहद्-शरीर कहा गया है।

बृहच्छरीरो बिमिमान ऋक्वभिर्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम्

(ऋ० १। १५५। ६)

वह नियम जिसके द्वारा वामन विराट् होता है या अणु महिमाभावमें आकर या केन्द्र विष्कम्भभावमें प्राप्त होता है, उसे रिक्वन् कहा गया है। रिक्वन् छन्दित गतिकी क्रिया है।

इस छन्दोमयी गतिके प्रभावसे केन्द्र व्यासरूपमें विकसित होता है और उसके दोनों ओर बिन्दु-बिन्दुपर एक मण्डल बनता है और प्रत्येक मण्डलके उदरमें एक स्वस्तिकका निर्माण होता है, जिसमें ९०-९० के चार समकोण होते हैं। इन कोणोंको नाम या नमन और ९० को नवति कहा जाता है।

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं
न वृत्तं व्यतींरवीविपत्।

(ऋ० १। १५५। ६)

वामन विष्णु बलिके सामने प्रकट होनेवाले विष्णु विराट्के रूपधारी थे, जो वामन थे वही विराट् बन गये। देवकी माता अदिति यह अनन्त प्रकृति है। अदितिके गर्भमें ही वामनका आधान या विकास होता है, जिसका अर्थ यह है कि त्रेधाविचक्रमणका नियम अव्यक्त स्रोत या गर्भमें विद्यमान रहता है और वहींसे वह महिमाभावमें आता है। अग्नि, वायु, आदित्य—ये तीन महिमा देव हैं, जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ—इन तीन लोकोंके संचालक प्राण हैं। उन्हींके प्राणात्मक स्पन्दनसे प्राणसृष्टि या लोकसृष्टि हो रही है। इस महिमा-सृष्टिका विस्तार पृथ्वीसे द्युलोक तक है।

रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम

(लेखक——कविराज पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ)

[गताङ्क पृष्ठ १०९६ से आगे]

रतिके चार भेद

शुद्धरति

शुद्धरति, कामजरति, सम्बन्धजरति और भयजरति। इनमें शुद्धरति निरुपाधिक रति है। इसमें काम, सम्बन्ध और भयकी उपाधि नहीं रहती। केवल भगवान्के अनन्त परमानन्ददायक गुणगणोंसे आकर्षित होकर जो भगवद्विषयक निष्काम प्रीति स्वाभाविकतया अनिश बनी रहती है, वह शुद्धरति है, जैसा कि सनकादिकी रति।

कामजरति

काम, सम्बन्ध और भयसे उत्पन्न होनेवाली रति सोपाधिक रति कहलाती है। काम विशुद्ध प्रेम तथा रमणेच्छा-का नाम है। श्रीमद्भागवतमें गोपियोंका विशुद्ध प्रेम ही काम-शब्दसे अभिहित है। अतः गोपियोंकी रतिको 'कामजरति' कहते हैं। केवल रमणेच्छाजन्य कामजरति तो कुब्जाकी ही थी।

सम्बन्धजरति

इस रतिके दो भेद हैं—वात्सल्य और सख्य। बालरूप भगवान्को अपना बालक समझनेके कारण नन्द-यशोदाका प्रेम जो पाल्यपालक-भावरूप था, उसे वत्सलकरति कहते हैं।

जो लोग भगवान्को न तो अपनेसे बड़ा समझते हैं न छोटा। वे उन्हें समानरूपमें अपना सखा समझते थे, जैसे श्रीदाम-सुबल आदि। उनकी इस रतिका नाम 'सख्यरति' है।

भयजरति

इस भयको सिंह-व्याघ्रादिके भयके समान उद्वेग करनेवाली मनोवृत्ति नहीं समझना चाहिये; किंतु दास जैसे स्वामीकी सेवामें चूक न पड़ जाय, इस बातसे डरता है, कुलीन अनुशिष्ट सत्पुत्र जैसे पिताकी तथा शिष्य गुरुके आज्ञापालनमें कहीं त्रुटि न हो जाय, इस बातसे डरता है—ऐसी ही मनोवृत्तिका नाम ही यहाँ भय है। भगवान्की सेवामें किसी प्रकारकी त्रुटि न हो जाय, इस भयसे सर्वदा भगवान्की सेवामें सन्नद्ध रहना ही भयजरति है।

चार प्रकारकी रतिसे पाँच रसोंका उद्गम

शुद्धरतिसे शान्तरस, भयजरतिसे दास्यरस, सम्बन्धरतिसे सख्य और वात्सल्यरस, एवं कामजरतिसे शृङ्गाररसका उद्गम होता है। व्रजदेवियोंमें चारों प्रकारकी रति थी। अतः उनको पाँचों रसोंका एक साथ प्रपानक रसके समान एक अत्यन्त विलक्षण रसका आनन्दानुभव होता था। इस अनुभूतिका नाम ही परम रस है।

एकदा यद्यपि व्यक्तमिदं रतिचतुष्टयम्।
तदा तु पानकरसन्यायेन परमो रसः॥

(भक्तिरसायन २। ७०)

जब सब प्रकारकी रसोद्भावक कारणसामग्री एक ही आश्रयमें एक साथ उपस्थित हो जाती है तो पाँचों रसोंका मिश्रण होकर एक अलौकिक अद्भुत आनन्दका अनुभव, प्रपानक (शर्बत या ठंडाई) की तरह विलक्षण रसका जनक हो जाता है। जैसे इलायची, बादाम, केशर, गुलकन्द, काली मिर्च, जल, मिश्री—इन सब वस्तुओंका अपना-अपना स्वाद पृथक्-पृथक् होता है, परंतु सबको घोंटकर एक साथ मिला देनेपर जो पेय (ठंडाई) तैयार होता है, वह एक विलक्षण स्वादवाला बन जाता है। ऐसे ही शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृंगारका पृथक्-पृथक् आनन्द है, पर जहाँ इन सब रसोंका एक साथ अद्भुत मिश्रण हो जाता है, उस आनन्दका वर्णन तो लेखनी और जिह्वाकी वर्णनशक्तिसे अतीत है। एकमात्र गोपाङ्गनाओंको ही इस परम रसका अनुभव हुआ था। अन्य किसीको हुआ ही नहीं।

अतः गोपाङ्गनाओंके चित्तका आलम्बन करो। गोपाङ्गनाओं-के चरित्रका प्रेम और श्रद्धाके साथ अध्ययन करनेसे अन्यान्य पुरुषोंके चित्तको भी उनके चित्तके साथ मिल जानेके कारण उसी परम रसकी अनुभूति हो सकती है।

व्रजदेवीषु च दृष्टं स्पष्टं रतिचतुष्टयम्।
तच्चित्तालम्बनेनैव स्वचित्तं तादृशं भवेत्॥

(भक्तिरसायन २। ७२)

'व्रजदेवियोंके चित्तमें—ये चारों प्रकारकी रतियाँ स्पष्ट देखी गयी हैं। उनके चित्तके साथ अपने चित्तको मिला देनेपर हमारा चित्त भी वैसे ही आनन्दका अनुभव करनेवाला हो जायगा। चित्तको ध्येयमें स्थिर करनेकी विधि भी योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने यही बतलायी है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्।

वीतराग पुरुषके चित्तका आलम्बन करनेसे चित्त ध्येयमें स्थिर हो जाता है।

रसरूप भगवान्‌की उपासना

रासपञ्चाध्यायीमें रसरूप भगवान्‌की उपासनाकी ही प्रधानता है। श्रुतिमें भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करते हुए यही तो कहा है—

'रसो वै सः, रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

रस ही भगवान् है, यह जीव रसरूप भगवान्‌को प्राप्त करके ही आनन्दवान् होता है। यद्यपि साहित्यशास्त्रमें रसके शृंगार, वीर, करुणादि नौ भेद माने हैं और वे सभी आनन्द-रूप हैं, पर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो रस एक ही है, जो परमानन्द-स्वरूप है। उसीकी अभिव्यञ्जनाके नौ प्रकार हैं। इन सब अभिव्यञ्जक प्रकारोंसे जो अभिव्यक्त होता है, वह रस तो केवल एक ही है। आनन्द-प्राप्तिके हेतु अनेक हो सकते हैं, पर उन हेतुओंसे प्राप्त होनेवाला निर्विशेष आनन्द तो एक ही है। अतएव अग्निपुराणमें रसका रूप वर्णन करते हुए व्यासजीने लिखा—

अकारं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिस्तदा हि सा तस्य चमत्काररसाह्वया॥

'जिसको वेदान्तशास्त्रों अर्थात् उपनिषदोंमें अक्षर, परम ब्रह्म, सनातन, अज, विभु, एक, अद्वितीय और ज्योतिः-स्वरूप ईश्वर कहा है, उसका सहज आनन्द कभी महान् पुण्यबलसे जीवके हृदयमें अभिव्यक्त होता है।' परमानन्दकी उस अभिव्यक्तिका नाम ही 'रस' है। पण्डितराज जगन्नाथने भी आवरणरहित चित् (चितिशक्ति) को ही रस माना है।

अनावृता चिद् रसः।

तात्पर्य यह है कि आत्मा ही आवरणोंसे रहित होनेपर रस है, रस ही आनन्द है। अतएव श्रुति कहती है—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।

ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला ही सब ओरसे निर्भय होता है। अस्तु!

रसराज भक्तिरसका मूल शान्तरस है, शान्तरसका आविर्भाव हुए बिना भक्तिका उद्गम ही नहीं हो सकता। बिना विवेकके वैराग्य कहाँ, वैराग्यके बिना शान्ति कहाँ। विरक्तिरहित अनुरक्ति अपूर्ण है और अनुरक्तिरहित विरक्ति निस्सार है। जबतक असत् (विषयों) का त्याग नहीं किया जाता, सत् (परमात्मा) में निष्ठा नहीं हो सकती। वास्तवमें असली शान्ति भगवन्निष्ठामें ही होती है। अतएव उद्धवके प्रति भगवान्‌ने कहा, **'शमो मन्निष्ठता बुद्धेः'** 'भगवान्‌में बुद्धिकी एकनिष्ठताका नाम ही शम है।'

यह शान्तरस ही दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि रसोंमें क्रमशः परिणत होता हुआ रसराज (मधुररस) दिव्य शृंगार बन जाता है, यही अप्राकृत शृंगार रासमें पूर्णता प्राप्त करता है।

जिस प्रकार आकाशादि महाभूतोंके गुण उत्तरोत्तर भूतोंमें आ जाते हैं—जैसे आकाशमें एक गुण शब्द है, वह आकाशसे ही उत्पन्न हुए वायुमें आ जाता है, अतः वायु शब्द और स्पर्श गुणयुक्त हो जाता है। वायुसे उत्पन्न अग्निमें रूप स्वगुण है और शब्द, स्पर्श अपने कारणभूत पूर्ववर्ती महाभूत आकाश और वायुके गुण भी रहते हैं। इसी प्रकार अग्निसे उत्पन्न जलमें रसगुण स्वकीय है और शब्द, स्पर्श, रूप पूर्ववर्ती महाभूतोंके गुण अनुवर्ती रहते हैं। ऐसे ही जलसे उत्पन्न पृथ्वीमें अपना गुण गन्ध और शब्द, स्पर्श, रूप, रस—पूर्ववर्ती महाभूतोंके गुण मिलकर पाँच गुण एकत्र हो जाते हैं। इसी प्रकार मधुररस (कान्ताभाव-) में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भावोंके आनन्द सम्मिलित होनेपर एक अपूर्व आनन्द उद्भूत हो जाता है। बस, यहाँ सब प्रकारके भावोंकी और रसोंकी परिपूर्णता हो जाती है। यही परमानन्द है, इसीको वेदान्तकी भाषामें 'मोक्ष' कहते हैं। **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन'** इस ब्रह्मानन्दको जो जान लेता है, वह निर्भय अभयपदको प्राप्त हो जाता है। **'अभयं वै जनक! प्राप्तोऽसि'** बस, जीवकी यही कृतकृत्यता है, यही पूर्णता है।

द्रुत चित्तमें ही परमानन्दका प्राकट्य होता है

वेदान्तशास्त्र चित्तको द्रव्य मानता है, जो पञ्चमहाभूतोंके सूक्ष्म सात्त्विक अंशोंसे बना है और वह लाखकी तरह

पिघलने एवं कठिन होनेवाला द्रव्य है। तापक विषयोंका योग होनेपर यह पिघल जाता है, नहीं तो कड़ा रहता है। काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि भाव चित्तद्रव्यको तपाकर गीला (तरल) कर देते हैं, इन भावोंकी शान्ति होनेपर वह चित्त फिर कठोर हो जाता है; क्योंकि यह स्वभावसे कठिन है।

चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम्।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते॥
कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत्॥
(भक्तिरसायन १।४-५)

कामादि भावोंसे द्रुत हुए चित्तमें जो भाव प्रविष्ट हो जाता है, वह उसमें घुल-मिलकर एकात्म हो जाता है, फिर वह न तो कठोर होनेपर निकलता न फिर पिघलाकर उसमेंसे निकालना चाहें तो भी निकलता—जैसे हिंगलूका रंग लाक्षामें मिल जानेपर लाख प्रयत्न करनेपर भी नहीं निकलता—चाहे उसे तपायें या छानें, वह तो उसकी द्रुत और अद्रुत अवस्थामें भी उसीमें मिला ही रहता है। इसी प्रकार भगवद्विषयक काम-क्रोधादि भावोंसे द्रुत हुए चित्तमें प्रविष्ट भगवदाकाररूप परमानन्दमय, रसराज भगवान् स्वयं जब द्रुत हुए चित्तमें प्रवेश कर जाते हैं तब फिर वे निकालनेपर भी नहीं निकलते।

स्वयं निकलना चाहें तो भी नहीं निकल सकते—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति केवलम्॥

भक्तिरसमें स्वयं भगवान् परमानन्द-रसरूप मनोगत हो जाते हैं। फिर वे कभी भी भक्तके मनको त्यागकर नहीं जा सकते। ऐसे भक्तको ही महाभागवत, या भागवतप्रधान कहा गया है।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥
(श्रीमद्भागवत ११।२।५५)

चित्तकी द्रवावस्थाका नाम ही यहाँ प्रणय है, जो भगवत्-पादारविन्दको बाँधनेमें रज्जुका काम करता है, इसीलिये वह प्रणयरशना (प्रेमरज्जु) कही गयी है। अवश अवस्थामें भी हरिका नाम (जिस महाभागके) मुखसे निकल जाता है; उसके पापपुञ्जोंका नाश कर देता है, ऐसे हरि जिस पुरुषके हृदयको प्रेमकी रस्सीसे बँधकर नहीं छोड़ सकते, वह भगवद्भक्तोंमें प्रधान है।

चित्तकी द्रवावस्था हुए बिना भक्तिरसका आविर्भाव ही नहीं होता

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
(श्रीमद्भागवत ११।१४।२३)

जबतक भगवान्के यशोनिबन्धन गुण-नामको सुनकर रोमहर्ष नहीं होता और हृदय पिघलकर पानी-पानी नहीं हो जाता, एवं आनन्दके अश्रु आँखोंसे नहीं झरने लगते, तबतक हृदय शुद्ध ही नहीं होता और अशुद्ध हृदयमें, परमानन्द-रसरूप भगवान्का आविर्भाव भी नहीं हो सकता।

द्रुत हुए चित्तकी भगवदाकार वृत्ति ही भक्ति है

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥
(भक्तिरसायन १।३)

भगवान्के गुण-कर्म-यशके श्रवणसे द्रवित हुए चित्तकी सर्वेश्वर भगवान्में धारावाहिक वृत्तिका नाम ही भक्ति है। चित्तकी द्रवताके हेतु अनेक हो सकते हैं, परंतु उन हेतुओंसे निरन्तर भगवदाकार जो वृत्ति होती है उसमें भेद नहीं होता।

नारदजीने यही तत्त्व युधिष्ठिरको समझाया है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
(श्रीमद्भागवत १०।२९।१५)

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥
(श्रीमद्भागवत ७।१।३०)

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य आदि भावोंमें किसी भावको जो नित्य-निरन्तर भगवान्में रखते हैं वे भगवन्मय हो जाते हैं। गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपालादि राजाओंने द्वेषसे, वृष्णियोंने सम्बन्धसे, तुम पाण्डवोंने स्नेहसे

और हम नारदादि ऋषियोंने भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त किया है।

अतएव किसी भी हेतुसे क्यों न हो, मनको भगवान्‌में लगा देना चाहिये। भगवान् केवल मनके ग्राहक हैं— **'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्'**। मनकी वृत्ति भगवदाकार होनी चाहिये, फिर चाहे वह प्रेमसे हो या द्वेषसे। दोनोंका एक ही फल भगवत्प्राप्ति हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कामादि भावोंसे द्रुत हुए चित्तमें जो भगवान्‌का आकार प्रविष्ट होता है वही परम रस है।

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम्॥

(भक्तिरसायन १।१०)

परमानन्दस्वरूप भगवान् ही द्रुत हुए चित्तमें स्वयं स्थित होकर स्थायी भावको प्राप्त होकर ही स्वयं रसरूप हो जाते हैं। बस, इसीका नाम 'रसोपासना' है, जो रासपञ्चाध्यायीमें पूर्णताको प्राप्त हुई है और जो सब प्रकारकी भक्तियोंमें सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। इसीका नाम रति, प्रेमाभक्ति या फलरूपा भक्ति है, प्रेमाभक्तिके बिना भगवान्‌का साक्षात्कार असम्भव है, भगवान् भावके वश हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकारके भावोंमें मधुरभाव—कान्ताभाव श्रेष्ठ है। पतिव्रता पत्नी जैसे निष्कामभावसे अपना सर्वस्व पतिचरणोंमें अर्पित कर देती है, ऐसे ही भगवान्‌के चरणोंमें भक्तका आत्मसमर्पण ही कान्ताभाव है। रतिका उदय श्रीकृष्णकी कृपासे ही हुआ करता है। यह रति गोपियोंमें ही पूर्णताको प्राप्त हुई है। अन्य उद्धवादि भक्त तो इस रतिकी कामना ही करके कृतकृत्य होते हैं, प्राप्त करनेका तो साहस ही नहीं करते।

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥

(श्रीमद्भागवत १०।४७।५८)

संसारमें वास्तवमें सफल-शरीर धारण करनेवाली तो ये गोपियाँ ही हैं। जिनका रूढाख्य महाभाव केवल गोविन्दमें ही है। इस महाभावको प्राप्त करनेकी वाञ्छा मुनि, मुक्त अर्थात् भयभीत-मुमुक्षु और हम उद्धवादि भक्त करते हैं। अहो! जिसको अनन्तकी कथामें रस आता है वह भी ब्रह्मादिके जन्मको पसंद नहीं करता। फिर महाभावके अभिलाषयुक्त भक्त तो ब्रह्मादिके शरीरकी प्राप्तिकी वाञ्छा ही कैसे करेंगे?

गोपाङ्गनाएँ स्वकीया थीं या परकीया?

यह एक प्रश्न है जो प्रेमभक्तिके रहस्यसे अनभिज्ञ बहिर्मुख प्राणी किया करते हैं। इसका सीधा-सादा उत्तर यह है कि निखिल ब्रह्माण्डनायक चराचरात्मा सर्वव्यापक सर्वकारणकारण भगवान्‌से अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं, अतः गोपियाँ ही क्या, सब भक्त-अभक्त, देव-दानव-मानव भगवान्‌के स्वकीय ही हैं, परकीय कोई है ही नहीं। किंतु रतिकी दृष्टिसे यहाँकी रस-लीलामें श्रीगोपाङ्गनाओंकी रति परकीया भावसे ही भगवान्‌में थी; क्योंकि परकीया भावमें प्रियतमसे मिलनेके लिये जो कष्ट सहन करना पड़ता है, लोक-परलोक बिगड़नेकी जो परवा छोड़नी पड़ती है तथा प्रियतमसे मिलनेकी जो परम व्याकुलता—तीव्र तड़पन हृदयमें होती है, स्वकीया भावमें उसका शतांश भी नहीं होता। रागानुगा भक्तिमें प्रभुसे मिलनेके लिये जितने भी कष्ट हों, वे सब सुखरूप ही प्रतीत होते हैं। रागका लक्षण ही यह है—

दुःखमेवाधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात्स राग इति कीर्तितः॥

परकीया भावमें ही रागानुगा भक्ति और रसराज मधुर रसका परिपूर्ण परिपाक होता है।

अत्रैव परमोत्कर्षः श्रृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः।

श्रृङ्गार रसका परमोत्कर्ष इसी भावमें होता है। जैसे परकीया नारी अपने घरके काममें दिनभर लगी रहनेपर भी अपने अन्तःकरणमें उसी अपने वल्लभके सङ्गका आस्वादन करती रहती है। वैसे ही संसारके समस्त कार्योंमें रत रहते प्रभुका अपने अन्तरमें आलिङ्गन करते रहना ही परकीया भाव है।

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु।
तमेव स्वादयत्यन्तर्नवसङ्गरसायनम्॥

हमें श्रीगोपियोंके इस परकीया भावसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

परम भावका स्वरूप

'योषा जारमिव प्रियम्' ऋग्वेदकी ऋचाका यह एक अंश है। जिसका तात्पर्य है कि ईश्वरके प्रति मनुष्यके प्रेमका आवेग, परकीया नारीके उपपतिके प्रति प्रेमके आवेगके समान होना चाहिये। परम भावकी यही तात्त्विक

मीमांसा है। प्रेमका पूर्णतः परिपाक वास्तवमें परकीयामें ही होता है। स्वकीयामेंसे यह नियन्त्रण होकर आत्मबोधका सहायक बन जाता है। प्रकृतिमें जो मिथुनभाव चल रहा है, सभी स्त्री-पुरुषमें जो परस्पर आकर्षण है—साहित्यमें उसे रतिभाव तथा साधन-क्षेत्रमें मधुरभाव कहते हैं। ब्रह्माने सब वेदोंका तीन बार अपनी मनीषासे विचार करके अन्तमें यही निर्णय किया कि मनुष्यके कल्याणका हेतु——केवल परमात्मरति ही है।

भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥
(श्रीमद्भागवत २।२।३४)

रासपञ्चाध्यायीके प्रेमपूर्वक नित्य पाठ करनेसे गोपियोंकी चित्तवृत्तियोंके साथ अपनी चित्तवृत्तिको मिलानेका अभ्यास बढ़ाना है। गोपियोंकी भक्ति रागात्मिका थी। उनके चरित्रोंका मनन करनेसे ही रागानुगा भक्तिकी उपलब्धि होती है। अन्य किसी साधनसे रागानुगा भक्तिका उदय ही नहीं होता—इसीलिये तो उद्धवने इसे मुनियोंको भी दुर्लभ बताया।

दिष्ट्या प्रवर्तिता भक्तिर्मुनीनामपि दुर्लभा॥

यही कारण है कि रासपञ्चाध्यायीको आधार बनाकर जितना साहित्य प्रेमी भक्तोंके द्वारा भारतकी विविध भाषाओंमें प्रकाशित हुआ है, संसारमें उसकी तुलना अन्यत्र दुर्लभ है और इससे अधिक लोकप्रिय साहित्य भी दूसरा नहीं है। आबाल-वृद्ध, वनिता-पुरुष सभीके मानसिक भावोंको पूर्ण आनन्द देनेकी क्षमता एकमात्र इसी साहित्यमें है। मूर्खसे मूर्ख, पण्डित, ज्ञानी, अज्ञानी, भक्त और अभक्त, योगी और भोगी सभीको आनन्द और शान्ति प्रदान करनेमें यह पूर्णतया समर्थ है।

हमारे भीतर जो अपूर्णता है, वह हमें चैन नहीं लेने देती और पूर्णको प्राप्तकर उसमें पूर्णतया स्थित हुए बिना दूर नहीं होती। शान्तभावमें भी जो आनन्दानुभूति है, वह भी द्वैत-मूलक है। इसमें हमारी रतिभावनाका प्रस्फुरण नहीं हो पाता। इसी प्रकार दास्य, सख्य, वात्सल्यमें क्रमसे रति उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती जाती है, पर मधुर भावके बिना वह अपूर्ण ही रहती है; क्योंकि मधुर भावके बिना सब भावोंमें किसी-न-किसी अंशमें द्वैतभावना बनी ही रहती है। दोका एकमें लय होनेकी क्रमव्यवस्था ही प्रेम और आनन्दकी मूल प्रेरणा है। भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग दोनोंका लक्ष्य दोको एक करना ही है। दोनों साधन भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञानमार्गमें **'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि'** आदि महावाक्योंके सम्यक् श्रवण-मनन, निदिध्यासनके द्वारा साधक अद्वैत निष्ठामें स्थित होता है। जो बुद्धिके चरम विकासका फल है और भक्तिमार्गमें स्नेह, मान, प्रणय, राग-अनुराग, भाव-महाभावके क्रमसे अद्वैतावस्था प्राप्त होती है। इस क्रमसे प्राप्त अद्वैतावस्थाका नाम ही मधुर भाव, कान्ताभाव या महाभाव है। यह भाव हृदयकी द्रवताके बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकता। परंतु दोनों मार्गोंका फल दोकों एक बना देना ही है—प्रेममार्गमें दोकी एकताका वर्णन करते हुए भगवान् व्यासजीने लिखा है—

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥
(श्रीमद्भागवत ११।१२।१२)

समाधि-अवस्थामें जैसे मुनिजन भगवान्‌में मिल जाते हैं, नदियाँ जैसे समुद्रमें मिलकर अपने नाम-रूपको खोकर समुद्र बन जाती हैं, वैसे ही रासविहारमें भगवान्‌में सर्वात्मना लीन हुई गोपियाँ अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा इस लोक और परलोककी सारी सुध-बुध भूलकर भगवन्मय हो गयीं।

यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि परमात्माके प्रति हृदयमें प्रेमका उद्गम भी प्रभुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे ही होता है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।
सो जानत जेहि देहु जनाई।
नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।

इत्यादि। वेद और भक्तोंकी अनुभवपूर्ण उक्तियाँ इसमें प्रमाण हैं।

इस महाभावरूप रस-प्रवाहका एकमात्र रसराजके साथ मिलकर नित्य होनेवाला परम दिव्य परमानन्द-नृत्य ही रास-विहार है।

महाभावस्वरूपा श्रीराधा

इस रासमें प्रवेश पानेके तथा रसमयी महाभावकी उपासनाके अधिकारी वही हो सकते हैं, जिनकी आत्मा समस्त आवरणोंसे रहित होकर शुद्ध-सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाती है। चिन्मयकी चिन्मयी गोपिकाओंके साथ होनेवाली चिन्मयी लीलामें भला जड प्रकृतिसे आवृत विषयी पामर पुरुष कैसे प्रवेश पा सकते हैं। **'देवो भूत्वा देवान् यजेत'** का अटल सिद्धान्त है। देव बने बिना देवकी पूजाका कोई अधिकारी ही नहीं होता।

वस्तुतः भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति ही रति है, यह

रस पक्षमें स्थायिभावस्वरूपा है और श्रीकृष्णपक्षमें महाभावस्वरूपा श्रीराधा हैं। रति महाभावकी जननी है, कार्य और कारणमें अभेद होनेसे रतिको ही महाभाव कहते हैं। महाभावरूपा रति ही श्रीराधा हैं। उज्ज्वल-नीलमणिकारने श्रीराधाको महाभावस्वरूपा माना है—

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वतोऽधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी॥
ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता॥

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी श्रीराधाको महाभावस्वरूपा ही अङ्कित किया गया है—

कृष्णे भगवता ज्ञान संवितेरसार
ब्रह्मज्ञानादिक सब ताँर परिवार
ह्लादिनीर सार प्रेम, प्रेम-सार भाव,
भावेर परम काष्ठा नाम महाभाव,
महाभावस्वरूपा श्रीराधा ठाकुरानी
सर्वगुण खानि श्रीकृष्णकान्ताशिरोमणि।

श्रीमद्भागवतमें—

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥
(१०।३०।२८)

श्रीशुकदेवजीने इस पद्यमें एक प्रकारसे श्रीराधाका ही संकेत किया है। सब सखियोंको त्यागकर भगवान् जिसको अपने साथ एकान्तमें ले गये थे, वह राधाके अतिरिक्त अन्य कौन हो सकती है? इसीलिये तो भावुक टीकाकारोंने 'राधया सहितः राधितः' यह अर्थ किया है। अस्तु, श्रीमद्भागवतकी प्राणस्वरूपा रासपञ्चाध्यायीमें हमें परमानन्दकन्द श्रीकृष्ण और उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाके दिव्य भावपूर्ण दिव्य विहार, दिव्य लीलाका दिव्य रसास्वादन प्राप्त होता है।

श्रीगोपाङ्गनाएँ इन्हीं श्रीराधाजीकी काव्यव्यूहरूपा प्रेममूर्तियाँ हैं। राधासहित इन गोपाङ्गनाओंके परम दिव्य प्रेमरूप रास-विहारका ही परम दिव्य वर्णन रासपञ्चाध्यायीमें है। श्रीकृष्णार्पणमस्तु!

सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा

(रचयिता—डॉ० श्रीहरिशंकरजी शर्मा डी० लिट्०)

जय जन-जननी, जय जन-जीवन,
जय गोकुल-गरिमा, जय गोधन,
जय सुखदा-शुचिदा सुख-दर्शन,
भक्ति सहित वर वन्दन तेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

तेरे वीर बली वृष बालक,
धोरी-धनी, धवल, कृषि-चालक,
वाहन-वाहक, पुर-प्रतिपालक,
मिटा रहे दुर्गति-दुख-डेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

घृत, नवनीत, दूध-दधि खाते,
सन, तृण, तेल, अन्न-पट पाते,
पूतों फलते, दूधों न्हाते,
सुखमय तेरा वास-बसेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

घूम-घूम तिनके चरती है,
दुख हरती, पर-हित करती है,
जीते-जी वैभव भरती है,
मरकर भी उपकार घनेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

गोमय, मूत्र रोग-संहारक,
विष-मारक, शुभ स्वास्थ्य-प्रसारक,
उपले-खाद आदि हितकारक,
गुण-गौरव वर्णित बहुतेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

मथुराजीकी यात्राका अनुभव

(लेखक—दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

शुभ कार्यमें भगवान्की दया खूब दीख पड़ती है। यात्राके संकल्पको भी प्रभुने ही पूरा किया और इस कारण यात्रामें पग-पगपर उन्हींको मदद करनी पड़ी। मोटरमें, गाड़ीमें, रास्तेमें—जहाँ गये, अनुकूलता, आदर, सहायता और दया प्रत्येक मनुष्य देता रहा। गाड़ीमें आरामसे सोनेकी जगह मिली। पर्वका दिन होनेके कारण भीड़ थी, फिर भी गाड़ीमें सोनेको मिला। स्नान करनेमें, देव-दर्शनमें भीड़-भाड़ मालूम ही न हुई। यात्रासे बहुत लाभ है। भगवान्ने एकादश स्कन्धमें जिन-जिन वस्तुओंसे पुरुषके मनपर असर पड़ता है, उनमें जल, पृथ्वी, सूर्य, प्राणी और स्थानकी गणना की है। आर्योंने यात्राके स्थान निश्चित कर दिये हैं। जिस स्थानका वातावरण प्राकृतिक स्वास्थ्यप्रद हो, जहाँ नदी, जंगल या पहाड़से परमात्माकी निरामय मायाकी सुन्दर कृतिका दर्शन होता हो, वैसे सुन्दर और मनोहर तथा चित्तको स्थिर करनेवाले स्थानका मनके ऊपर बहुत अच्छा असर होता है। जैसे बुरे सहवाससे मन मलिन होता है, वैसे ही निर्जन तीर्थस्थानोंके सहवाससे मनमें सहज ही पवित्रता आती है। इसके अतिरिक्त यदि उन स्थानोंमें पवित्र पुरुषोंका वास हो तो जिस जगहपर उन पुरुषोंने तप या ईश्वरभजन किया हो, वह जगह विशेषरूपसे मनको लाभ पहुँचाती है, क्योंकि वह सबको पवित्र करती है। पवित्र उसे कहते हैं, जो अपवित्रको पवित्र करे। इस प्रकारके पवित्र तीर्थ हैं। श्रीपुष्कर क्षेत्र अजमेरसे सात-आठ मील दूर पहाड़ोंके बीचमें है। रास्ता प्राकृतिक सौन्दर्यसे भरपूर है। वहाँ जाते ही मनके विकार शान्त हो जाते हैं। मन सहज ही निर्विचार अवस्थामें आ जाता है। शहरोंमें जो मन अनेक प्रयत्न करनेपर भी शान्तिका अनुभव नहीं करता, वही मन इस स्थानमें आते ही सुख, शान्ति और आनन्दका अनुभव करने लगता है। अतः जान लो कि मनके ऊपर जगत्के सारे प्राणिपदार्थोंका असर पड़ता है। परंतु वह स्थायी नहीं होता। स्थायी प्रभाव ज्ञानका ही होता है। बिना फलकी कामनाकी भक्तिसे होता है। तीर्थोंसे मन शान्त और निर्विकार होता है। उस अवस्थाका उपयोग उस समय हो तो उसका स्थायी प्रभाव होता है; परंतु यदि उसका सदुपयोग न हो और यात्रामें भोग-विलास और स्वादिष्ट भोजन ही होता हो तो कोई लाभ नहीं। लोहेको अग्निमें तपाते हैं और तप्त हो जानेपर उसे घनसे पीटकर उसे जिस आकारका चाहें बना ले सकते हैं; बिना घनसे पीटे केवल तपानेसे जैसा आकार बनाना चाहें, वैसा नहीं बन सकता। यही दशा मनकी है। मन सात्त्विक संयोगके सेवनसे नरम बने तो उस समय निष्काम भक्ति, ज्ञान, विचार, आत्मविचारके अभ्याससे जीवका अवश्य उद्धार हो जायगा। तीर्थ मनको सात्त्विक बनानेमें बहुत मदद करता है। तीर्थमें जाकर शान्त बैठकर भगवान्का भजन-ध्यान करे, आत्मविचार करे तथा एकान्तमें बैठकर अपने स्वरूपका शोधन करे, निश्चय करे। यदि ज्ञाननिष्ठ और चारित्र्यवान्, भक्ति-ज्ञान और कर्मके विवेकी पुरुष मिलें तो उनके पास बैठकर अपनी शङ्काओंका समाधान करके निश्चय करे।

पवित्र तीर्थमें भगवान्का नाम-स्मरण खूब करे, कीर्तन करे, जहाँ भगवान्की मूर्ति हो वहाँ जाकर देरतक दर्शन करे, पीछे आँखें मूँद कर उसी मूर्त्तिका ध्यान करे, फिर दर्शन करे। अनेक मूर्त्तियोंका अनेक बार दर्शन करनेकी ममता न रक्खे, बल्कि जो मूर्त्ति तेजस्वी, सुन्दर और अपने मनको हरनेवाली हो, उसीका दर्शन एकटक करता रहे, सामने खड़ा रहे। अनुकूल हो तो वहाँसे न हटे। जो मूर्ति स्थापित होती है, उसके साथ स्थापना करनेवालेका तप, उसके सुकृत तथा भक्ति आदि सब उस मूर्तिके साथ विद्यमान होते हैं; और इसके साथ मूर्तिके प्रति या उस निमित्त होनेवाली प्रत्येक क्रियाका उस मूर्तिके आसपास वातावरण जमा रहता है, वह वातावरण हमारे मनके लिये बहुत लाभ-प्रद है। अतएव उस मूर्तिका दर्शन, स्पर्श आदि जितनी देरतक हो, जितनी बार हो, करना चाहिये। यात्रामें बार-बार या बहुत कसकर भोजन न करना चाहिये। हलका, अल्प, सात्त्विक भोजन हो। यात्रामें सत्सङ्ग करना चाहिये। आज-कलके कुसमयमें भी तीर्थोंमें सत्सङ्ग होता है और वह प्राप्त है। यद्यपि अधिकांश तीर्थ आज दुर्जनोंसे दूषित हो गये हैं, तथापि पहले तीर्थों और अन्य शहरोंमें जो अन्तर था, वह अन्तर आज भी है। पहले शहरोंमें सत्पुरुषोंसे जो पवित्रता थी, वह आज नहीं है; तीर्थोंमें भी जो पवित्रता पहले थी, वह आज नहीं है। पतन दोनोंका हुआ है और वह समान है। इसलिये शहरके रहनेवालोंको जैसे तीर्थ पवित्र करते थे, आज भी वैसे ही पवित्र करते हैं; क्योंकि शहरनिवासियोंकी

अपेक्षा तीर्थनिवासी आज भी अनेक दृष्टिसे श्रेष्ठ हैं; तीर्थ चाहे जैसे हों, वे अनर्थ नहीं करते। बुरा सङ्ग न करके तीर्थको स्वाभाविक रीतिसे पवित्र मानते हुए जप-तप, तितिक्षा और सत्सङ्गके उग्र पुरुषार्थको अपनाकर तीर्थसेवन करनेकी आवश्यकता आज भी है।

पुष्कर तीर्थमें एक बड़ा मन्दिर है। कहते हैं कि उसके निर्माणमें बीस लाख खर्च हुआ है। दर्शन करके निकलनेपर मन्दिरके फाटकके पास मन्दिरके निर्माता बैठे हुए मिले, जिनके मुँहपर चार-पाँच दिनोंकी हजामत बढ़ी थी। शरीरपर एक बंडी पहने सादे वेषमें थे। मैंने पास जाकर पूछा—'सेठजी! यह मन्दिर आपने बनवाया है?' तो उत्तर दिया कि 'भगवान्‌ने बनवाया है।' मैंने पूछा, 'खर्च कितना हुआ?' वे बोले, 'खर्च होता जा रहा है।' उनके साथ बात करनेमें उनका सादापन, विवेक और निरभिमानता झलक रही थी। भाई! विचार करके देखिये—जिसने एक मन्दिर बनवानेमें बीस लाख रुपये खर्च कर दिये, उसकी हैसियत कितनी होगी? और उसका प्रबन्ध करनेमें कितनी चिन्ता, कितनी सावधानी करनी पड़ती होगी। धनका मद नहीं, धनकी रक्षाकी चिन्ता नहीं। साधुके जीवनकी अपेक्षा इस गृहस्थका जीवन कहीं अधिक शिक्षाप्रद है। हम थोड़ेमेंही अकड़, अभिमान और मदके शिकार बन जाते हैं; इनको देखनेपर अपना सारा गुमान रफूचक्कर हो जाता है।

सत्सङ्गसे सारा कार्य सिद्ध होता है। कैसा ही गृहस्थ और कैसा ही वेषधारी साधु हो, अभिमानसे ही उसका पतन होता है। यह अभिमान और किसी उपायसे नहीं जाता, केवल निरभिमानीके सङ्गसे दूर होता है। जीवके जो दोष हैं, वे दोष अपने विरोधी गुणवाले पुरुषके सङ्गसे ही शमनको प्राप्त होते हैं। इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है। इसी कारण सत्सङ्गकी महिमाका गुणगान होता है। सत्सङ्गके बिना अन्तःकरणका संताप दूर नहीं होता, सत्सङ्गके बिना अन्तःकरणके दोष नहीं मिटते। सत्सङ्गके बिना प्रभुमें भक्ति नहीं होती। जबतक सत्सङ्गसे चित्त सात्त्विक नहीं होता, तबतक उसका प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव तीर्थ चित्तको सात्त्विक बनाता है, अतएव इस तीर्थके संयोगमें सत्सङ्गसे उसे रँग दे। लोहा गरम हो, तभी उसे पीटना चाहिये। ठंडा होनेपर पीटना मुश्किल हो जाता है। उसी प्रकार चित्त जिस समय सात्त्विक हो, उस समय उसको ज्ञान, भक्ति, सत्कर्म, हरिकथा और सत्सङ्गमें लगा दे।

साधुवेषधारीका सङ्ग ही सत्सङ्ग नहीं। चरित्रवान् व्यक्तिको ही साधु समझना चाहिये। जिसके सेवनसे परिणाममें दुःख प्राप्त होता हो, उसका त्याग करे; और जिसके सेवनसे परिणाममें सुख मिले, वह साधु है। ऐसा पूर्ण साधु न मिले तो जिसमें जिस-जिस अंशतक साधुता हो, उस-उस अंशतक उसका सेवन करे और लाभ उठाये। कुछ लोगोंमें दानवृत्ति प्रबल होती है, कुछमें दया; कहीं विनय, किसीमें भक्ति, किसीमें निरभिमानता, किसीमें इन्द्रियजय, कहीं अक्रोध, कहीं सत्य—इस प्रकार विभिन्न गुणोंका समावेश विभिन्न व्यक्तियोंमें होता है। जो गुण जहाँ मिले, वहीं उससे ग्रहण करके लाभ उठाये। इसीका नाम सत्सङ्ग है और ऐसा सत्सङ्ग तीर्थमें सुलभ होता है; क्योंकि ऐसे पुरुष अपना कल्याण-साधन करनेके लिये तीर्थ-जैसी एकान्त पवित्र भूमिको ही निवासस्थानके रूपमें पसंद करते हैं। इसलिये तीर्थमें जाकर इस प्रकारके सत्सङ्गकी खोज करे। पवित्र पुरुष, परमात्माका भक्त कौन है और कहाँ है—इसका पता लगाकर उसकी शरणमें जाना चाहिये। अपनी शङ्काओंका समाधान विनय और विवेकसे करना चाहिये। कभी भी विशेष विवाद नहीं करना चाहिये।

शङ्काएँ दो प्रकारकी हैं—एक अपना कल्याण-साधन करनेके विषयमें शङ्का होती है; वह सच्ची शङ्का है और उसका निराकरण सत्पुरुष या गुरुके पास जाकर कर ले। दूसरी शङ्काएँ विनोद तथा पुस्तककी शङ्काएँ हैं, वे बेकार हैं। तीर्थमें दूसरी आवश्यक बात यह है कि जो लोग कल्याण-साधनमें विघ्नरूप जानकर अपनी आजीविकाके लिये धन कमानेका उद्योग छोड़कर, गृहस्थ या साधुवेषमें ईश्वरके आधारपर जीवन बिताते हैं, उनकी अपनी शक्तिके अनुसार धन या साधनके द्वारा सेवा करे। यही सत्पात्रको दान देना कहलाता है। यह श्रेष्ठ दान है, इसका बहुत फल होता है। ईश्वरके सहारे रहनेवाले व्यक्तिकी आवश्यकताओंकी पूर्ति जिस दानसे होती है, उसकी महिमाका पार कोई नहीं पा सकता।

हरिः ॐ तत्सत्

मधुर

विप्रलम्भ और सम्भोग या विरह और मिलन पवित्र प्रेमराज्यके दो अङ्ग हैं। दोनोंमें ही प्रेम-रसका पवित्र प्रवाह समानरूपसे बहता रहता है। श्रीराधा-माधव तो वास्तवमें एक ही तत्त्वस्वरूपके दो लीलास्वरूप हैं। लीलामें भी वस्तुतः उनमें वियोग-बिछोह नहीं होता, रसोत्कर्ष तथा रसास्वादनके लिये ही वियोग-लीला होती है। एक बार श्रीराधाजी वियोग-दशामें बैठी वियोगकी लीलामयी अग्निमें जल रही थीं।

विरह-व्यथा पीड़ित, विषाद मुख
बैठी निज एकान्त निकुञ्ज।
प्रियतम-स्मृति-रत, विरत जगत् सब,
विस्मृत सकल विषय-सुख-पुञ्ज॥
श्याम-वियोग-अनल जलते सब
अङ्ग, अनलसे उपजा जल।
बही अश्रुधारा अजस्र अति
उष्ण, जलाती सारा स्थल॥
उदय हुआ उच्चाट घोर उर,
निकली मुखसे करुण पुकार—
"हा प्राणेश! प्राणवल्लभ, हे
प्राण-प्राण, हा प्राणाधार॥"
वचन रुद्ध हो गया अचानक,
सूखे नेत्र, स्तब्ध सब अङ्ग।
हुए, तभी दीखे मनमोहन,
विजयी अमित अनन्त अनङ्ग॥

एक बार श्रीराधाजी अपनी एकान्त निकुञ्जमें बैठी थीं, विरहकी व्यथासे पीड़ित थीं और मुखपर विषाद छाया था। वे प्रियतम श्रीकृष्णकी स्मृतिमें लीन थीं, सारा जगत् मनसे हट गया था और सारे विषय-सुख-समूहोंकी विस्मृति हो गयी थी। श्यामसुन्दरके वियोगानलसे सब अङ्ग जल रहे थे। (तत्त्वोंमें अग्निसे ही जलका प्राकट्य होता है, इसी प्रकार) उस विरहाग्निसे जल प्रकट हो गया और श्रीराधाजीके नेत्रोंसे अत्यन्त गरम आँसुओंकी धारा अजस्ररूपसे बह चली, वह उष्ण अश्रुधारा समस्त भूभागको—राधाजीके सारे अङ्गोंको बाहरसे भी जला रही थी। उनके हृदयमें भयानक उच्चाटन उत्पन्न हो गया और सहसा उनके श्रीमुखसे करुण पुकार निकल पड़ी—'हा प्राणेश्वर! हा प्राणवल्लभ! हे प्राणोंके प्राण! हा प्राणाधार!' फिर अचानक ही वाणी रुक गयी, नेत्र सूख गये और सारे अङ्ग निश्चेष्ट हो गये। ठीक इसी समय उन्हें अपरिमित अनन्त कामदेवोंपर विजय प्राप्त करनेवाले मनमोहन श्रीश्यामसुन्दर दिखायी दिये। (वे वहाँ थे ही, सामने प्रकट हो गये।) वे कैसे हैं?

मधुर-सुमधुर, मधुर उससे भी,
परम मधुर, उससे भी और।
मधुर, मधुरतम, नित्य निरन्तर
वर्द्धनशील मधुर सब ठौर॥
अङ्ग-अङ्ग माधुर्य-सुपूरित,
मधुर अमृतमय पारावार।
अखिल विश्व सौन्दर्य, मधुर
माधुर्य सकलके मूलाधार॥

वे मधुरसे सुमधुर, उस मधुरसे भी परम मधुर तथा उससे भी और मधुर मधुरतम हैं। उनका 'मधुर' सब जगह—सारे अङ्गोंमें नित्य निरन्तर बढ़ता ही रहता है। उनका अङ्ग-अङ्ग माधुर्यसे परिपूरित है, वे मधुर अमृतमय समुद्र हैं। समस्त विश्व-सौन्दर्य और समस्त मधुर माधुर्यके वे मूल आधार हैं (बीज हैं, मूलस्रोत हैं)।

नील कमल कमनीय कलेवर
सहज सौरभित मधुर अपार।
नेत्रद्वय, मुख, नाभि, करद्वय,
चरणद्वय द्युति-सुषमागार॥
विविध वर्ण, सौरभ विभिन्न युत
अष्ट कमल ये अति अभिराम।
यों विकसित नव कमल मिलित हो
अनुपम शोभा हुई ललाम॥

उनका नीलकमलरूप सुन्दर कलेवर है और वह

सहज ही अपार मधुर सुगन्धसे भरा है। फिर दो नेत्र-कमल, एक मुखकमल, एक नाभिकमल, दो कर-कमल और दो चरणकमल—जो तेज और शोभाके भंडार है, जिनके (अरुण, हरित आदि) पृथक्-पृथक् वर्ण हैं और जिनमें विभिन्न प्रकारकी मधुर सुगन्ध फैल रही है—बड़े ही सुन्दर हैं। एक नील-कमलके साथ ये आठों विभिन्न वर्णोंके कमल और नीलकमलकी सुगन्धके साथ इन आठ कमलोंकी विभिन्न विचित्र सुगन्ध—सबके संयोगसे श्रीश्यामसुन्दरकी एक परम सुन्दर श्रेष्ठ अनुपम शोभा हो रही है।

देख छबीली छटा, देख
छरहरा बदन, छाया आनन्द।
छकी, लुभाई, लगी देखने
अपलक अति अतृप्त अद्वन्द ॥
उमड़ा उर आनन्द सुधा निधि,
बही नेत्र शीतल रस-धार।
देख अतुल छवि, माधव मृदु हँस,
बोले अमृत वचन सुखसार ॥

श्रीराधाजीने इस छबीली छटाको और छरहरे श्रीविग्रहको देखा। उनपर आनन्द छा गया। वे छक गयीं, पर तत्क्षण ही मन लुभाया और वे अपलक नेत्रोंसे अतृप्त भावसे अनन्य-वृत्तिसे उन्हें देखने लगीं। उनके हृदयमें आनन्दामृतका समुद्र उमड़ पड़ा और उनके नेत्रोंसे शीतल रसकी (विरहके गरम आँसुओंकी नहीं, मिलनानन्दरसकी) धारा बह चली। राधाजीकी इस अतुलनीय शोभाको देखकर प्रियतम श्रीमाधव मृदु मुसकानके साथ सुखके साररूप अमृतमय वचन बोले—

प्रिये ! तुम्हारा तन-मनका यह
दिव्य अतुल लीला विस्तार।
सहज निरीहरूप मुझमें भी,
करता इच्छाका संचार ॥
परमानन्दरूप मैं पाता
इसे देख अतिशय आनन्द।
इसीलिये मैं छिप-छिपकर
अविरत देखा करता स्वच्छन्द ॥
परमसिद्ध योगीन्द्र, ब्रह्म-
वेत्ता मुनीन्द्र, शुचितम सब संत।
छू सकते न तुम्हारी छाया,
पा सकते न भावका अन्त ॥
ललचाते नित रहते, कहते
धन्य ! धन्य !! गोपी-जन भाव।
चरणधूलि कण सदा चाहते,
सेवाका अति रखते चाव ॥
इसीलिये वे पशु-पक्षी-द्रुम
बन व्रजमें लेते अवतार।
पद-रज-कण ले गोपीजनका
होते धन्य सिरोंपर धार ॥

प्रिये राधिके ! तुम्हारा शरीर तथा मनका यह लीला-विस्तार दिव्य और अतुलनीय है। (न इसमें लौकिकता है और न इसकी कहीं तुलना है।) मैं सहज स्वरूपसे ही इच्छारहित हूँ, पर यह मुझमें देखनेकी इच्छाका संचार कर देता है। मैं स्वरूपसे ही परमानन्द हूँ, पर मैं इस तुम्हारे लीला-विस्तारको देखकर अतिशय आनन्द प्राप्त करता हूँ। यह परमानन्द-स्वरूपको भी अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाला है। इसीलिये मैं छिप-छिपकर स्वच्छन्दरूपसे सदा-सर्वदा तुम्हारे इस लीला-विहारको देखा करता हूँ। परमसिद्ध योगीन्द्र, ब्रह्मवेत्ता मुनीन्द्र और परम पवित्रतम सब संतगण तुम्हारी छायाको भी नहीं छू सकते, न वे तुम्हारे भावका अन्त ही पा सकते हैं। वे सदा ललचाते रहते हैं और तुम्हारे तथा तुम्हारी कायव्यूहरूपा गोपाङ्गनाओंके भावोंको धन्य-धन्य कहते रहते हैं। वे सदा तुम सबके चरण-धूलि-कणकी इच्छा करते और तुम्हारी सेवाका अत्यन्त चाव मनमें रखते हैं। इसलिये वे हमारी प्रकट लीलाके समय व्रजमें पशु-पक्षी या वृक्षलताके रूपमें अवतरित होते और गोपीजनके पद-रजकणको अपने मस्तकोंपर धारण करके धन्य होते हैं।

कामके पत्र

(१)

साधनकी महत्ता और आवश्यकता

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त निम्नलिखित उत्तर है । जैसे बिना नींवके मकान नहीं बन सकता और यदि बना दिया जाय तो शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पारमार्थिक क्षेत्रमें साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं होती । 'अष्टाङ्गयोग'में पहले 'यम-नियम' आवश्यक हैं । 'अद्वैत-ज्ञान'की सिद्धिमें 'साधन-चतुष्टय' आवश्यक है । धर्मके पालनमें मनु महाराजकथित 'दस मानव-धर्म' आवश्यक हैं और भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें 'समर्पणयुक्त भजन' अत्यन्त आवश्यक है । हमलोग यहीं भूल करते हैं—साध्यकी बात करने लगते हैं, परंतु साधनकी उपेक्षा करते हैं । होना चाहिये यह कि साधनको ही साध्य बना लिया जाय तो साध्य अपने-आप उतर आता है ।

मनुष्य कर्मयोनि है । बिना कर्मके वह एक क्षण भी नहीं रह सकता । इसलिये उसे निरन्तर अच्छे कर्ममें उत्तरदायित्वके साथ नियुक्त रहना चाहिये । सत्कर्मका परित्याग कर देनेपर मन-इन्द्रियाँ निकम्मी रहेंगी नहीं, वे प्रमाद-कर्म करेंगी । इसीलिये त्यागी वैष्णव संतोंने तीन-तीन लाख नाम-जपका नियम रक्खा है कि जिससे दूसरी बात सोचनेके लिये, करनेके लिये अवकाश ही न मिले । संक्षेपमें साधकको निम्नलिखित बातोंको ध्यानमें रखना चाहिये—

(१) परचर्चा, परनिन्दा, परदोष-कथन और परदोष-श्रवण—ये सब करके मनुष्य व्यर्थ ही पाप-संस्कारोंका संग्रह करता है । केवल जीवनका समय ही नहीं खोता, उसे अनर्थके सेवनमें लगाता है ।

(२) आलस्य-प्रमादमें एक क्षण भी न खोना । नाम-जप, पूजन, स्वाध्याय, सेवा इत्यादिमें नियमित रूपसे एक-एक क्षणको लगाये रखना ।

(३) कभी भी यह नहीं सोचना चाहिये कि बिना साधन किये दूसरा कोई हमें भगवान्‌के धाममें पहुँचा देगा । संत या गुरु मार्ग बताते हैं । चलना अपनेको ही पड़ता है । दूसरा क्या करता है, क्या कहता है—इसकी ओर न देखकर अपने गुरूपदिष्ट मार्गपर सावधानीके साथ चलते रहना ।

(४) जहाँतक बने काम, क्रोध, वैर, हिंसा, द्वेष, द्रोह, अभिमान तथा गर्वको आश्रय न देना । दम्भ कभी न करना । भगवान्‌को हम किसी प्रकार भी छल नहीं सकते । जो भगवान्‌को ठगना चाहता है, वह आप ही ठगाता है ।

(५) मनसे, वाणीसे, शरीरसे कभी भी किसी प्रकार भी कुसङ्गमें न पड़ना । जिससे संसारके प्रपञ्चोंमें रुचि बढ़ती हो, इन्द्रिय-संयम घटता हो, त्यागके बदले भोग-भावना बढ़ती हो, आसुरी सम्पत्तिकी ओर वृत्ति जाती हो, भगवान्‌का भजन कम होता हो और भगवान्‌की लीला आदिमें रुचि घटती हो, वे सब-के-सब कुसङ्ग हैं और बड़ी सावधानीसे उनका त्याग करना चाहिये ।

(६) धारणा, ध्यान, समाधि—ये पीछेकी चीजें हैं । सबसे पहले तो भगवान्‌में हमारी रुचि हो, इसके लिये संसारका भजन कम-से-कम करके भगवान्‌का भजन करना चाहिये और भगवान्‌को जो प्रिय हैं, इस प्रकारके दैवी आचरणोंका आश्रय लेना चाहिये । जगत्‌की बातें कहने-सुननेसे अधिक-से-अधिक बचना चाहिये ।

इन सब बातोंपर यदि ध्यान रक्खा जायगा तो साधनामें सचमुच मनुष्य अग्रसर होगा । अपनेको साधक, प्रेमी, भक्त, ज्ञानी, निष्काम-कर्मयोगी, संत इत्यादि मान लेनेसे अथवा किसीके कहनेसे उसे स्वीकार कर लेनेसे ही वास्तवमें यह सब नहीं हुआ जाता । जीवनमें जो चीज मूर्तिमान् होती है, वही उसका वास्तविक स्वरूप होता है । शेष भगवत्कृपा ।

प्रिय महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपने जो कुछ लिखा, वह आपके मनकी धारणा है । पर सच्ची बात तो यह है कि अपनेको जितना मैं जानता हूँ, उतना आप नहीं जानते; और जब मैं अपनी ओर देखता हूँ तो सारा जीवन ही त्रुटियों और कमजोरियोंसे भरा हुआ दिखायी देता है । बचपनमें और फिर तरुणावस्थामें भी जिस प्रकारके पवित्र भावोंका प्रवाह बहता था, वह आज नहीं दिखायी देता । मनुष्यको सदा सीखनेवाला बनना चाहिये, सिखानेवाला नहीं । सिखानेवालेसे सीखनेवाले कहीं अधिक श्रेष्ठ होते हैं, यह मेरे जीवनका अनुभव है । अतएव मेरे सम्बन्धमें आपकी धारणा जो कुछ भी हो, शास्त्रके वचनोंको लेकर आपको अपना जीवन सात्त्विक बनाना चाहिये । इसीमें आपका लाभ है । वास्तवमें दूसरेका जीवन हमें कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता, यदि उसके अच्छे जीवनका हम अनुकरण न करें; और जो मनुष्य अपनेमें अच्छापन देखता है एवं दूसरेमें बुराई देखता है, वह वास्तवमें अच्छा नहीं है । अपनी ही बुराई दूसरेमें दीखती है । जो सबमें भगवान्‌को देखता है, उसके लिये सभी भगवान् हैं; पर जो संसारमें ईसाइयोंके कथित शैतानको देखता है, वास्तवमें उसके मनकी शैतानी ही जगत्‌में शैतानका दर्शन कराती है । प्रथम तो दूसरेकी ओर देखे ही नहीं—न गुण देखे, न दोष । भागवतमाहात्म्यमें आया है—

अन्येषु दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा ।

'दूसरोंके दोष-गुण-चिन्तनसे तुरंत ही छूट जाय' । पर यदि देखना ही हो तो दूसरोंके गुण देखे । गुण सबमें रहते हैं, देखनेवालेकी आँखें होनी चाहिये । सबमें भगवान् देखे जायँ, तब तो कहना ही क्या है ।

मनुष्य अहंकारवश ही यह मानता है कि 'मेरे द्वारा जगत्‌की सेवा हो रही है, जगत्‌का कल्याण हो रहा है और मेरे न रहनेपर पता नहीं क्या होगा । यह सब व्यर्थ ही भगवान्‌के आसनपर बैठनेका कुप्रयास है, जो मनुष्यको गिरानेवाला ही है । सारी अच्छाइयाँ भगवान्‌में हैं और भगवान्‌से आती हैं । हम कहीं अच्छाईमें निमित्त बनते हैं, यह भगवान्‌की कृपा है; अभिमानकी कोई वस्तु नहीं । मनुष्यको सर्वथा अपनेको दीन मानकर दीनबन्धुकी शरणमें रहना चाहिये । शेष भगवत्कृपा ।

(२)

जीवनमें भगवद्भाव लानेकी चेष्टा कीजिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। इस समय सारे जगत्‌में भोगवादकी प्रधानता हो रही है। सब मनुष्योंको भोजन-वस्त्र, स्थान मिलना चाहिये और उसकी प्राप्ति करवानेमें जो लोग सचेष्ट हैं, वे निश्चय ही आदरणीय हैं । इस दृष्टिसे साम्यवाद (कम्यूनिज्म), समाजवाद (सोशलिज्म) निस्संदेह प्रशंसाके योग्य हैं; परंतु वास्तवमें मानव-सेवाकी भावना भोगवादके सामने टिक नहीं पा रही है । कोई वाद (इज्म) हो, सभी लोग भोगोंके अर्थात् अर्थ और अधिकारके पीछे उन्मत्त हैं । समाजवाद हो या पूँजीवाद, सभीको अर्थ चाहिये और अधिकार चाहिये । इस 'अर्थ' और 'अधिकार'की लिप्साने मानव-जीवनमेंसे त्याग और कर्तव्यके पवित्र भावोंको निकालकर उसे असुर या राक्षस बना दिया है और जबतक भोगवाद जीवनका

लक्ष्य रहेगा, तबतक किसी भी देशमें और किसी भी वादमें लोगोंको वास्तविक सुख-शान्ति और प्रेम नहीं मिलेगा। हमारा भारतवर्ष ही, जो किसी जमानेमें त्यागमय जीवनका आदर्श रखनेवाला था, भोगवादकी प्रबलतासे आज इतना नीचे गिर गया है कि सभी तरफ संकुचित स्वार्थको लेकर बुरे-से-बुरे आचरण हो रहे हैं। अमुक पार्टी अच्छी नहीं, अमुक अच्छी—यह कहते नहीं बनता। कांग्रेसी, समाजवादी, पूँजीपति, व्यापारी, अफसर, मन्त्री, अधिकारी, मजदूर आदि सब हमीं तो हैं। परस्पर कलह, एक दूसरेको धोखा देनेकी प्रवृत्ति, दलबंदी, हिंसा आदि चीजें क्यों हो रही हैं? इसीलिये हो रही हैं कि सबको आज अधिकार और अर्थ चाहिये। कर्तव्य और त्यागसे कोई सरोकार नहीं। जैसे अभावग्रस्त लोगोंके अभावकी पूर्तिकी चिन्ता न करके विलासितामय खर्चीला जीवन बिताना पाप है, वैसे ही लोक-सेवाके नामपर अपनेको लोक-सेवक, नेता आदि बताकर स्वार्थ-साधन करना भी पाप है। दूसरेका दोष हम सभी देखते हैं, पर वही दोष अपने अंदर दूसरेकी अपेक्षा अधिक है, इसको नहीं देखते।

आप पापको नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो।

—तुलसीदासजीने यह बहुत सत्य कहा है।

अतएव जब कभी भी हो, जीवके भगवान्‌के अभिमुखी होकर त्याग और कर्तव्यको जीवके स्वभावमें लाये बिना कानूनोंसे, व्याख्यानोंसे और बहुत कड़े दण्ड-विधानसे भी वास्तविक सुधार नहीं होगा। इसलिये प्रसार होना चाहिये भगवद्भावोंका और भगवद्भावमें सदाचार, मन-इन्द्रियोंका संयम, सेवा, सर्वभूतहित, निज स्वार्थका त्याग, सबमें आत्मोपम दृष्टि और प्राणि-मात्रमें भगवान्‌को देखकर सबकी सेवा करना और सबका हित करना अनिवार्य है। जहाँतक बने, प्रत्येक व्यक्तिको अपने लिये ही इस प्रकारका बननेकी चेष्टा करनी चाहिये। दूसरे लोग भगवद्भाववाले बनें और हम भोगवादी ही रहें—यों यदि सभी सोचने लगें, जैसा कि सोच रहे हैं, तो किसीका भी कल्याण नहीं होगा और कोई भी भगवद्भाववाला नहीं बनेगा। इसके बदले यह निश्चय करें कि दूसरा कोई बने या न बने, मुझको तो भगवद्भाववाला बनना ही है। यों यदि सबका निश्चय हो जाय तो सभी भगवद्भाववाले बन जायँ। अतएव दूसरेकी ओर न देखकर, दूसरेकी समालोचना न करें, दूसरे हमारे लिये क्या कहते हैं, इसकी चिन्ता न करें और अपने जीवनमें भगवद्भाव लानेकी पूरी चेष्टा करें। यही आपके सारे प्रश्नोंका एकमात्र उत्तर है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

एक साधुके प्रति सम्मति

सम्मान्य महोदय, सादर प्रणाम। आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। वास्तवमें यथार्थ संत बहुत थोड़े ही होते हैं, और कौन संत हैं, कौन नहीं—इस बातको हम प्रायः जान भी नहीं सकते। संत स्वयं ही अपनी स्थितिको जानते हैं। मैं तो अपने-जैसोंके लिये यही निर्णय किया करता हूँ कि जिनके सङ्गसे अपने जीवनमें दैवी सम्पत्तिका उदय और संवर्द्धन हो, निषिद्ध कर्मोंका त्याग और भोगोंसे वैराग्य हो, भगवान्‌की ओर चित्तवृत्ति लगे और जगत्‌से हटे, हमारे लिये तो वही संत हैं—चाहे वे संत न कहलाते हों; और जिनके सङ्गसे आसुरी सम्पत्तिकी वृद्धि हो, पापोंमें रुचि और भोगोंमें आसक्ति बढ़े और जगत्‌की ओर आकर्षण हो, वे चाहे परम संत ही हों, पर हमारे लिये उनका सङ्ग लाभदायक नहीं है। संत-असंतकी पहचान करनेके लिये परीक्षण करने दौड़ना आवश्यक नहीं है। अपनेको सँभालना आवश्यक है। परीक्षणमें हम बड़ी भूल कर सकते हैं। बाहरी दृष्टिसे संतके आभ्यन्तरिक जीवनका पता नहीं लग

सकता। जैसे पत्थर और लोहा तौलनेके काँटेपर हीरा नहीं तुल सकता, वैसे ही हमारी वैषयिक बुद्धिके द्वारा गुणातीत संतकी पहचान नहीं हो सकती। रही संतोंके गिरनेकी बात, तो संत तो वास्तवमें गिरते ही नहीं। पर उनमें भी सङ्गदोषके फलसे व्यवहारमें इन्द्रिय, मन इत्यादि रहनेके कारण दोष आ सकता है; निरहंकार होनेके कारण भले ही वह उनपर लागू न हो। इसीलिये संतोंको परम विरक्त, जनसमूहसे अलग, नित्य ध्यानपरायण रहनेकी बात कही गयी है। जो साधक हैं और संत कहलाते हैं, उनको तो विशेष सावधान रहना है। इन्द्रियाँ और मन बड़े प्रबल हैं। मन धोखा देकर लोक-कल्याणकी भावनासे भी अशुभ कर्ममें प्रवृत्त करा देता है। जहाँतक मेरा अपना अनुभव है, मेरे सामने उदाहरण है और मैंने यही समझा है कि साधु-संतोंको, भक्तोंको उनके सरलमति भक्त और चेले ही बिगाड़ते हैं। इन लोगोंके द्वारा प्राप्त अत्यन्त आदर, सब प्रकारकी सेवा, बढ़िया आरामकी चीजें, विविध स्वादिष्ट पदार्थ, उनके मतका आग्रहपूर्ण प्रचार, उनके गुणोंका और चमत्कारोंका प्रचार आदिसे परिणाममें उन संतोंमें यह अभिमान पैदा हो जाता है कि हम ऐसे हैं। फिर वे अपनेको इसी प्रकारका सिद्ध करने, चमत्कारादि दिखलाने तथा परम ज्ञानस्वरूपताका परिचय देने लगते हैं। इन बाह्य चेष्टाओंके अनुरूप वास्तविक स्थिति न होनेसे बर्ताव-व्यवहारमें सावधानी बर्तनेपर भी दोष प्रकट हो जाते हैं। इससे लोगोंमें श्रद्धा घटने लगती है, तब उन्हें और भी प्रपञ्च रचने पड़ते हैं। जीवन साधन-क्षेत्रसे हटकर प्रपञ्चके क्षेत्रमें आ जाता है। फिर जो उनको वैसा संत नहीं मानते या विरोध करते हैं, उनके प्रति अन्तर्मानसमें द्वेष पैदा हो जाता है और अनुकूल माननेवालेके प्रति राग हो जाता है। जहाँ राग-द्वेष प्रत्यक्ष रूपसे आये कि फिर तीव्रताके साथ परमार्थ-पथसे च्युति होने लगती है और भगवत्पूजाके स्थानपर भगवत्पूजाके नामसे ही जानमें या अनजानमें अहंकारवश व्यक्ति-पूजन होने लगता है और वे संत कहलानेवाले सच्चे साधक भी पतित हो जाते हैं। इसलिये संतको बहुत अधिक सावधान रहना चाहिये।

आप साधु हैं और मैं गृहस्थ। अतएव साधुको किसी प्रकारका उपदेश देनेकी न तो मुझमें शक्ति है, न योग्यता और न मेरा अधिकार ही है। आप प्रेमसे पूछते हैं, अतएव मेरी यह नम्र सम्मति है कि जहाँ तक बने आप लोकालयसे अलग रहें। शिष्य-भक्तोंसे विशेष सावधान रहें। अर्थ और स्त्री—इन दोनोंके साथ—परोपकार और सेवाकी बुद्धिसे भी—सम्पर्क न आने दें। इनसे सर्वथा अपनेको अलग रक्खें। आपसी पंचायतका काम न करें। चमत्कार न दिखलायें। भविष्यवाणी न करें। किसीके भी उद्धारका जिम्मा भगवान्‌पर ही रहने दें, स्वयं न लें। अधिक समयतक मौन रहें और अपने पास आनेवाले भक्तोंके साथ केवल भगवच्चर्चा या अध्यात्मचर्चा ही करें।

आपने भक्तोंको उपदेश देनेके विषयमें पूछा, सो संक्षेपमें तीन ही उपदेश दें—

(१) पाप-कर्मका सर्वथा परित्याग।

(२) विश्वासपूर्वक भगवान्‌का नाम-जप, और

(३) भगवान्‌के अनुकूल दैवी-सम्पत्तिके कर्मोंका आचरण।

केवल ऊँची बातों और अद्वैतज्ञान तथा विशुद्ध प्रेमके तत्त्व-निरूपणसे कोई लाभ नहीं। घर पहुँचनेपर अपने-आप ही घर पहुँचा हुआ आदमी घरको देख लेता है। असलमें तो बात होनी चाहिये उस मार्गको जाननेकी

और उसपर लक्ष्यको ध्यानमें रखते हुए चलनेकी, जो निर्विघ्नतापूर्वक सीधा ले जाकर गन्तव्य स्थान-पर पहुँचा दे। इसीलिये साधनकी आवश्यकता है। प्रेम और ज्ञानके नामपर इन्द्रिय-मनका संयम करनेवाले, सेवामें प्रवृत्ति करानेवाले और भजनमें लगानेवाले साधनोंका परित्याग करना बहुत बड़ी भूल है। इस भूलमें न स्वयं पड़ना चाहिये और न औरोंको ही डालना चाहिये। श्रीरामकृष्ण परमहंसके पास एक महात्माने आकर पूछा—'आप ध्यान क्यों करते हैं?' उन्होंने कहा—'अन्तर्मलका नाश करनेके लिये। लोटा रोज न माँजा जाय तो उसपर दाग पड़ जाते हैं।' इसपर उन महात्माने पूछा—'लोटा यदि सोनेका हो तो फिर तो उसपर दाग नहीं पड़ते। फिर उसे माँजनेकी क्या आवश्यकता है? अर्थात् भगवत्प्राप्त सिद्ध पुरुषको साधनाकी क्या आवश्यकता है।' तब परमहंसजीने उत्तर दिया—'सबके पास सोनेके लोटे हैं नहीं। सोनेके लोटेवाला उसे यदि माँजना बंद कर दे तो उसकी देखा-देखी पीतल-ताँबेके लोटेवाले भी बंद कर देंगे। अतः वह उनके लोटोंमें दाग लगानेवाला बनेगा।' इसलिये जबतक लोकालयमें हैं, तबतक लोग उसकी देखा-देखी करके न गिरें, इसलिये भी संतको—सिद्ध संतको भी तन-मन-वचनसे विशुद्ध आदर्श आचरण और व्यवहार करना चाहिये।

अतएव इन सब बातोंपर विचार करके आप अपनेको विषय-जगत्से अलग रख सकें तो बड़ा अच्छा है। जब श्रद्धेय स्वामीजी श्री×××××× दिवङ्गत हुए तब ×××× ××× ×××××× और ×××××××× दोनों मेरे पास आये थे। उन्होंने बड़े प्रेमसे पूछा था कि 'हमलोग अब लोक-कल्याणार्थ प्रचारमें लगें या एकान्तमें भगवान्‌का भजन करें।' मैंने उन दोनोंसे ही विनम्र प्रार्थना की थी कि 'मेरी समझसे तो एकान्तमें भजन करना अधिक उपयोगी है।' इसके बाद, जहाँतक मैंने सुना, कुछ दिनोंतक तो वे अलग भजनमें प्रवृत्त रहे, किंतु फिर वे लोक-कल्याणके कार्योंमें प्रवृत्त हो गये और आज उनके बड़े-बड़े आश्रम चल रहे हैं। उनके ये आयोजन उत्तम हैं, इसमें कोई संदेह नहीं; परंतु मेरी समझसे एकान्त भजनसे उनको और जगत्‌को जो महान् लाभ होता, वह इन बाहरी आयोजनोंसे नहीं हो सकता। प्रपञ्चमें राग-द्वेष आये बिना नहीं रहते और राग-द्वेष परमार्थ-पथके परम शत्रु हैं। भगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें राग-द्वेष व्यवस्थित हैं। उनके वशमें न होना। वे बटमार हैं। परमार्थके धनको लूट लेते हैं और यही होता है।

इन सब उदाहरणोंको सामने रखकर मेरी समझसे तो आप विरक्त रूपमें साधुका धर्म पालन कीजिये और 'सच्चे साधुके अस्तित्व मात्रसे जगत्‌का परम कल्याण होता है'—इस सिद्धान्तको सत्य करके दिखाइये। शेष भगवत्कृपा।

(४)

भोगोंकी दुःखमयता और अनित्यता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तर देरसे जा रहा है, सो कोई विचार न कीजियेगा। धर्मराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नके उत्तरमें कहा था—'रोज-रोज प्राणी मर रहे हैं, उनको मरते देखकर भी शेष रहे हुए लोग चाहते हैं, हम कभी न मरें, यह सबसे बड़ा आश्चर्य है।'

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

पर मोहवश हमलोगोंकी भोगोंमें आस्था हो रही है। दूसरोंको समझाने-सिखानेमें हम कोई कसर नहीं रखते, परंतु स्वयं ऐसे व्यामोहमें फँसे हुए हैं कि भोगोंसे सुखकी आस्था जरा-सी भी नहीं हटती। देखते हैं, भोग दुःखमय हैं। अपने जीवनमें भी बार-बार इसका अनुभव होता है तथापि उसी मार्गसे जीवन चला जा रहा है। आपसे क्या कहा जाय? मृत्युको निकट समझकर, हो सके तो, निरन्तर भगवान्‌में चित्त लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। दूसरे क्या करते हैं और क्या कहते हैं, इसकी ओर देखनेकी आवश्यकता नहीं। भोगोंका बहुत अभाव हो या प्रचुर संग्रह हो, इससे वास्तवमें हमारे आत्मजीवनका कोई सम्बन्ध नहीं है। राजा, रंक, फकीर सभी मृत्युके ग्रास बनते हैं और ममताकी सारी वस्तुएँ यहीं रह जाती हैं। हो सके तो भगवान्‌में अनन्य ममता कीजिये। तुलसीदासजी महाराजने एक ही दोहेमें बड़ा सुन्दर उपदेश दे दिया है—

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भवपार॥

भगवान् रामके चरणोंमें अनन्य ममता हो, जगत्‌के तमाम द्वन्द्वोंमें समता हो, तो राग-द्वेष रहेगा नहीं। राग-द्वेषके अभावमें पाप बनेगा नहीं। पापके अभावमें दुःख नहीं रहेगा और मनुष्य सहज ही भवसागरसे पार हो जायगा। यह सम्मति जो आपके लिये मैं दे रहा हूँ वास्तवमें अपने लिये ही दी जानी चाहिये। आपकी सरलता, साधुता और मेरे प्रति जो सद्भावना है, उसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। शेष भगवत्कृपा।

(५)

एकान्तस्थित महात्मासे विश्वकल्याण

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर निम्नलिखित है—

(१) एकान्तमें रहकर या मौन रखकर मनुष्य यदि साधनामें मन लगा सके तो उसके द्वारा उसका अपना और जगत्‌का जितना उपकार होता है, उतना उपदेशकों, व्याख्यानदाताओं और प्रचारकोंके द्वारा कदापि नहीं होता। प्रचारककी बाह्य वृत्ति रहती है, उसमें यदि पहलेकी कुछ शक्ति संगृहीत होती है तो वह प्रचारके क्षेत्रमें बाहर निकल-निकलकर समाप्त हो जाती है। नया संग्रह होता नहीं और फिर प्रचारका काम पल्ले बँध जानेसे पूँजी समाप्त हो जानेपर उसे दम्भ करना पड़ता है। इसलिये भी एकान्तमें रहकर मौन-साधना करना उत्तम है। दूसरे एक महात्मा यदि परम सिद्ध और शक्ति-सम्पन्न हों तो वे कहीं एकान्तमें मौन रहकर भी अपने शक्ति-भण्डारमेंसे नित्य-निरन्तर अपने आप जगत्‌को जितना देते हैं, वे जितना विश्वका महान् कल्याण करते हैं, उतना कोई भी बाह्य समर्थ तथा सच्चा प्रचारक भी नहीं कर सकता।

'गुरुस्तु मौनं व्याख्या शिष्याः संछिन्नसंशयाः'

(२) साधन अच्छा हुए बिना साध्य अच्छा नहीं हो सकता। बीजके अनुसार ही फल होगा। जो मनुष्य भगवान्‌के विरोधी निषिद्ध कर्मोंको करता हुआ भी भगवान्‌की प्रसन्नता चाहता है, वह वैसा ही है, जो आकका बीज बोकर आम चाहता है। अतएव न तो साध्यके विषयमें कोई तर्क करना चाहिये, न साध्य वस्तुको प्राप्त महापुरुषोंके समान अपनेमें बिना हुए ही बाहरसे अपनेको दिखाना चाहिये। जो लोग मिथ्या ही अपनेको सिद्ध पुरुष मानकर साधनको छोड़ देते हैं, वे तो बहुत ही नीचे गिरे हुए होते हैं। वे केवल अपना ही नुकसान नहीं करते, उनकी देखा-देखी उनमें श्रद्धा रखनेवाले लोग भी साधन छोड़कर गिर जाते हैं।

इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णके गीतामें कहे हुए अध्याय ३ के २१वें से २६वें श्लोकतकके वाक्योंका मनन करना चाहिये। जिनमें भगवान्‌ने अपने लिये भी यह कहा है कि 'मुझे न तो कुछ प्राप्त करना है और न मेरा कहीं कोई कर्तव्य है तथापि मैं सावधानीके साथ इसलिये आदर्श व्यवहार और कर्मका आचरण करता हूँ कि जिससे मेरी देखा-देखी लोग सत्कर्मोंका परित्याग करके नष्ट न हो जायँ।' बल्कि महात्माओंका तो यह कहना है कि साध्य मिलनेपर भी साधन न छोड़ो। भगवान्‌के मिलनेपर भी भगवान्‌की पूजा और भगवान्‌का नाम, भगवान्‌की सेवाका कार्य करते जाओ।

(३) नाम-जपमें और मन्त्र-जपमें इतना ही अन्तर है कि मन्त्रमें विधिकी प्रधानता होती है और नाममें श्रद्धाकी। नाम किसी प्रकार भी विधि-अविधिपूर्वक लिया जाय, तो लाभदायक होता है और मन्त्रका अविधिपूर्वक जप करनेसे कहीं-कहीं उससे हानि भी हो जाया करती है। शेष भगवत्कृपा।

(६)

साधन ही साध्य बनता है

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तर देरसे जा रहा है। क्षमा कीजियेगा। साध्यके अनुसार ही साधन होना चाहिये। हम हरद्वार जाना चाहें और आसामकी ओर जायँ तो हरद्वार नहीं पहुँच सकते। जहाँ जाना है, उसीके मार्गपर चलना है, इसीका नाम साधन है। साधन-कालमें जो साधनके रूपमें किया जाता है, सिद्धका वही लक्षण होता है। 'सिद्धस्य लक्षणं यत्स्यात् साधनं साधकस्य तत्।' अतएव आप सच्चिदानन्दघन सर्वगुणातीत भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं तो भगवान्‌के अनुकूल मार्गपर चलिये। इन्द्रियोंके वशमें होकर विषयोंमें आसक्त रहना, विषय-भोगोंमें ही जीवनका समय व्यतीत करना, उन्हींका चिन्तन करना और भगवान्‌की प्राप्ति भी हो जाय, यह सम्भव नहीं है। दैवीसम्पत्ति, यम-नियम आदिका पालन कीजिये, भगवान्‌के नामका जप कीजिये, भगवान्‌के चरित्रोंका अध्ययन और उनके आदेशोंका पालन कीजिये और इस साधनको फुर्सतकी चीज नहीं, सबसे बढ़कर सबसे पहले करनेका काम समझिये, तो आप भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सकेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं। और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेंगे, त्यों-त्यों आपको वैसे ही शान्ति और सुखका अनुभव होता चला जायगा, जैसे हिमालयकी ओर बढ़नेवालेको ठंढकका अनुभव होता है। शेष भगवत्कृपा।

भगवान् ही अपने हैं

तुम्हारा वास्तविक सम्बन्ध भगवान्‌से ही है, जगत्‌के सारे सम्बन्ध कल्पित और केवल यहाँ भरके लिये ही हैं। यहाँ न तुम्हारा कोई अपना है, न पराया; न बन्धु है न वैरी। यह सब मायाका खेल है। इसमें सत्यताका अनुभव करना ही भ्रम है। सत्य एकमात्र भगवान् हैं, उन्हींसे तुम्हारा सच्चा सम्बन्ध है, वही तुम्हारे अपने हैं। अतएव उन्हींमें मन लगाओ, उन्हींमें बुद्धिका अर्पण करो, सारी इन्द्रियोंको उन्हींकी सेवामें समर्पण कर दो। जगत्‌से सम्बन्ध रहे तो उन्हींके नाते रहे और जगत्‌के प्राणियोंकी सेवाके रूपमें उन्हींकी सेवाके लिये रहे।

दीपावली पर्व

(लेखक—श्रीरामप्रसादजी सनाढ्य, वेदान्ताचार्य, बी० ए०, एल० टी०)

'दीपावली' शब्द इतना सरल और सार्थक है कि नाम सुनते ही प्रत्येक मनुष्यके मनमें प्रकाशकी पंक्तियोंका एक चित्र खिंच जाता है। भारतवर्षमें यह त्यौहार भी होलीके समान ही प्रसिद्ध त्यौहार है। यह भी एक बड़ा आनन्दवर्द्धक पर्व है। भारतीय त्यौहार पर्व इसलिये कहलाते हैं कि उन्हें तत्त्वदर्शी पुरुषोंने प्राकृतिक परिस्थितियोंके आधारपर निश्चित किया है। त्यौहारके दिन सब लोग आनन्द मनाते हैं। आनन्द बढ़ानेके लिये मनुष्य-जातिने अनेक साधन निकाल रक्खे हैं। कोई भोजन और वस्त्रोंमें आनन्द मानते हैं, कोई नाटक और सिनेमा आदि देखनेमें आनन्द मानते हैं। कोई गाने-बजाने और नाच-कूदमें आनन्द मानते हैं। परंतु प्यारे भाइयो! चिन्तारहित आनन्द मिलना दुर्लभ है। हमारे यहाँके त्यौहारोंका लक्ष्य तो चिन्तारहित आनन्द मनाना है। दैहिक, दैविक, भौतिक—तीनों प्रकारकी चिन्ताएँ जिस समय नहीं होतीं, वही वास्तविक आनन्द है और वही सुकाल कहा जाता है। 'जो मन चंगा तो कठौतीमें गंगा' यह कहावत भारतवर्षमें प्रसिद्ध है। वास्तवमें देखा जाय तो मन ही एक ऐसा माध्यम है, जिसको प्रसन्न रखनेसे शरीर भी हृष्ट-पुष्ट रहता है और आत्मा भी स्वस्थ माळूम होता है। यद्यपि ईश्वर-अंश होनेसे आत्मा स्वतः ही आनन्दस्वरूप है; फिर भी मनकी प्रसन्नताके समय ही यह बात माळूम पड़ती है। जब मनमें चिन्ता या शोकका लेश होता है, तब बाहरी संसार भी चिन्ता और शोकमय दिखायी देता है। चिन्तारहित स्थिति मनुष्यके लिये दुर्लभ होती है, हर समय नहीं मिलती। इसलिये कुछ ऐसे पर्व नियत किये गये हैं, जिनमें मनुष्य ऐसी परिस्थितिका अनुभव कर सके!

भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है। इसलिये किसानोंकी सुविधाके विचारसे ही प्रायः सभी त्यौहार निश्चित किये गये हैं। विद्या या ज्ञानप्राप्ति और जीविका या धनप्राप्तिके लिये सभी मनुष्योंको पुरुषार्थ करना पड़ता है। कामनापूर्ति और मोक्षप्राप्ति तो इन्हीं दो साधनोंके आधारपर सम्भव हैं। भारतीय ऋषियोंने विद्याप्राप्ति और जीविका-प्राप्तिके विचारोंको ध्यानमें रखते हुए सालभरमें कई पर्व निश्चित किये हैं। गुरुपूजा, श्रावणी और प्रबोधिनी एकादशी इत्यादि विद्या-सम्बन्धी पर्व हैं। होली और दीवाली किसानोंके जीविका-सम्बन्धी यज्ञ-प्रधान पर्व हैं। [प्राचीनकालमें कुछ गुरुकुल आषाढ़ी पूर्णिमाको और कुछ श्रावणी पूर्णिमाको खुला करते थे। गुरुकुलोंके खुलनेपर ही 'ज्ञानयज्ञ' का त्यौहार मनाया जाता था, जिसमें वेदानुशासनकी शिक्षा दी जाती थी और यम-नियमोंके पालन करनेके लिये प्रतिज्ञा करायी जाती थी।] आजकल भी विद्यालय प्रायः आषाढ़में खुलते हैं; परंतु गुरुपूजा और ज्ञानयज्ञका तो प्रायः लोप ही हो गया है। श्रावणी पूर्णिमाके साथ 'श्रवणकुमार' के आदर्श चरित्रकी भावना बादमें सम्मिलित की गयी है, जिससे विद्यार्थी उपदेश ग्रहण कर सकें। 'दीपावली' कार्तिककी अमावास्याको और 'होली' फाल्गुनकी पूर्णिमाको मनाये जानेवाले जीविका-सम्बन्धी यज्ञ-प्रधान पर्व हैं। ये त्यौहार आजतक बराबर होते चले आ रहे हैं।

कृषिके विचारसे रबी या चैत्रकी फसल सबसे उत्तम

और सबसे पहली फसल मानी जाती है और खरीफ या कार्तिककी फसल वर्षकी अन्तिम फसल गिनी जाती है; क्योंकि प्राचीनकालमें मार्गशीर्ष या अगहनसे नया वर्ष प्रारम्भ होता था। गीतामें भी इसी विचारसे 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' कहकर इस महीनेकी मान्यता स्वीकार की गयी है। एक तो संवत्सर-का प्रथम मास होनेसे, दूसरे ऋतुकी उत्तमतासे यह महीना सबसे श्रेष्ठ माना गया है। आजकल चैत्रकी अमावास्याके बाद विक्रमी संवत्सर प्रारम्भ होता है। कार्तिकतक किसानोंके घर भिन्न-भिन्न प्रकारके सब अन्न इकट्ठे हो जाते हैं। तब अमावास्याको प्राचीन-कालसे चला आया 'दर्श' या आदर्श यज्ञ किया जाता है। भारतीय त्यौहारोंकी यही विशेषता है कि उनमें यज्ञ, दान और तपका पुट लगा रहता है। ऐसा करनेसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और मनुष्योंका मन पवित्र और प्रसन्न रहता है। आधे या पूरे दिन व्रत रक्खा जाता है। यह तपका चिह्न है। यज्ञके समाप्त होनेपर भुने हुए धानकी खील और बताशे मिलाकर प्रसाद बाँटा जाता है। यह दानका चिह्न है। व्रत करनेसे शरीर और दान करनेसे मन पवित्र होता है। अमावास्याके बाद प्रतिपदाको अन्नाग्रयण यज्ञ होता था। आजकल इसे अन्नकूट कहते हैं, जिसमें अनेक प्रकार-के अन्नोंसे अनेक प्रकारके भोज और व्यञ्जन तैयार किये जाते हैं। प्राचीनकालमें गरीब लोगों, विद्यार्थियों और साधु-संतोंको अन्नदान किया जाता था। आजकल लीक तो पीटी जा रही है, परंतु दान तो नाममात्र रह गया है।

अमावास्याकी रात्रिमें दीपदान या रोशनी करनेकी प्रथा चली आ रही है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि कार्तिककी अमावास्याके दिन श्रीरामचन्द्रजी महाराज वनवासके बाद लंका जीतकर अयोध्यामें लौटे थे। उस दिन रातके समय महादीपावली मनायी गयी थी। वही प्रथा अबतक चली आ रही है। परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि दीपदानकी प्रथा पहले नहीं थी; क्योंकि प्राचीनतम वैदिक साहित्यसे पता चलता है कि अग्नि और दीपक जलानेकी प्रथा अनिश्चित अनादि-कालसे चली आ रही है। विचारदृष्टिसे भी मालूम होता है कि अग्नि प्रकट करनेकी रीति सबसे पहले चली होगी। उसी कालके मध्य या कुछ पश्चात् अग्निकी जलती हुई 'लौ' को स्थायी रखनेके लिये दीपकका आविष्कार हुआ होगा। कुछ विद्वानोंका मत है कि ऋषियोंने अँधेरी रात्रिमें 'पटवीजना' के समूहको खेतोंमें जगमगाते हुए देखकर रात्रिमें विशेष प्रकाश करनेके लिये दीपकोंकी पंक्तियाँ लगायी थीं। उसीके अनुसार बस्तीके लोगोंने दीपावली लगानेकी प्रथा चलायी है। कुछ भी हो, दीपकको या दीपककी पङ्क्तियोंको देखनेपर बच्चोंसे लेकर बड़ोंतक सबका मन प्रसन्न होता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि आनन्द बढ़ानेके साधनों-में यह प्रथा भी सम्मिलित की गयी है। रामविजयके उत्सवने कार्तिककी अमावास्याकी रातमें दीपावलीकी प्रथा-को सोनेमें सुहागेके समान महत्त्व प्रदान किया होगा। इसी आधारपर दशहराके दिन रामविजयकी और कार्तिककी अमावास्याको अयोध्या लौटनेकी खुशी आज-तक मनायी जाती है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। प्रकाश एक ऐसा तत्त्व है, जिसको देखकर कीट-पतंग तो अपना जीवनतक न्यौछावर कर देते हैं। वे ऐसे आनन्दविभोर हो जाते हैं कि उन्हें अपने शरीरकी सुधि-बुधि कुछ नहीं रहती, फिर मनुष्योंके आनन्दका तो कहना ही क्या है।

दीपावलीके त्यौहारकी मान्यता सब त्यौहारोंसे अधिक हो गयी है। इसके कई कारण हैं—

(१) यह त्यौहार वर्षाकालके अन्तमें पड़ता है और वर्षका अन्तिम त्यौहार माना जाता है। इसलिये घरों और बस्तियोंकी पूरी-पूरी सफाई और पुताई इत्यादि की जाती है। इस कामकी आवश्यकता तो हर त्यौहार-पर होती है। परंतु वर्षाकालके पश्चात् तो सफाई और पुताई करना अनिवार्य हो जाता है। वर्षाका पानी बहनेसे घरोंकी दीवारें मैली हो जाती हैं और विषैली कीचड़ गलियोंमें जमा हो जाती है। वर्षाकालमें बादलों-के घिरे रहनेके कारण सूर्यकी तीव्र किरणें न मिलनेसे अनेक प्रकारके रोग फैलानेवाले जीवाणु पैदा हो जाते हैं। इसलिये दूषित पदार्थोंका दूर करना अति आवश्यक होता है। कलईद्वारा या कलईमें तूतिया इत्यादि मिला-कर पुताई करनेसे रोग फैलानेवाले जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। मक्खी और मच्छरतक भाग जाते हैं।

(२) अन्न ही किसानोंकी सम्पत्ति है। सालभर-की फसलोंका अन्न जमा हो जानेपर यज्ञ और दान इत्यादि करना भी अच्छा मालूम होता है और चिन्ता-रहित आनन्द भी तभी मनाया जा सकता है, जब घरमें सब साधन सुलभ हों।

(३) विद्याप्राप्तिके लिये श्रीगणेशजीकी पूजा की जाती है और यह पूजा तो प्रायः सभी कामोंके आरम्भमें की जाती है; परंतु इस त्यौहारपर तो विशेषरूपसे पूजा की जाती है।

(४) जीविका या धनप्राप्तिके लिये श्रीलक्ष्मीजीकी पूजा की जाती है। पूजाके बाद घरकी आमदनी बढ़ाने-के लिये लक्ष्मीजीसे प्रार्थना की जाती है और उनके सामने अगले वर्षमें आमदनी बढ़ानेके लिये किसी साधनको अपनानेके लिये संकल्प किया जाता है और उसे पालन करनेकी प्रतिज्ञा की जाती है।

(५) वर्षके अन्तमें अपने-अपने घरकी आय-व्ययका हिसाब-किताब पूरा किया जाता था और तीन दिनके लिये राजकीय बैंक भी बंद रहते थे। यह प्रथा अबतक चली आ रही है। साहूकार लोग अपनी आय-व्ययका हिसाब पूरा करते हैं और तीन दिनतक लेन-देन बंद रखते हैं। कहा जाता है कि इस त्यौहारपर कोई किसीका कर्जदार नहीं रहता। अति लाचारीकी दशा दूसरी है।

(६) जैसे होलीके त्यौहारको आसुरी प्रकृतिने बिगाड़ा है, इसी प्रकार दीपावलीके त्यौहारको भी आसुरी प्रकृतिने अछूता नहीं छोड़ा है। लक्ष्मीकी हविश रखनेवाले लोगोंने 'जुआ' खेलना प्रारम्भ किया और उसे भी त्यौहारका एक अङ्ग मानने लगे। धीरे-धीरे यह प्रथा ऐसी फैली कि यह त्यौहार जूआ-प्रधान ही बन गया। लक्ष्मीके लिये पता नहीं कितने लोगोंके प्राण गये; परंतु वह किसीको नहीं मिली। मिली भी तो तुरंत ही मालिक बननेवालेके हाथोंसे निकल गयी। अन्तमें वह हाथ मलता रह गया। लक्ष्मी तो वस्तुतः किसी संतोषी और त्यागी पुरुषके पास ही रह सकती है। इसीलिये बतलाया गया है कि लक्ष्मीने विष्णुभग-वान्को ही अपना स्वामी माना है। यह बात यथार्थ ही है। संतोष और त्याग इत्यादि उत्तम गुण ही लक्ष्मीके पात्र होते हैं। शास्त्रमें बतलाया गया है कि लक्ष्मी पुण्यसे तथा पुरुषार्थसे प्राप्त होती है। इसलिये पुण्य एवं पवित्र कर्म कीजिये, परिश्रम करके जीविका प्राप्त कीजिये, चिन्तारहित आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है। इसलिये हमारी यही प्रार्थना है कि भगवान् सबको सुबुद्धि दें, जिससे यह त्यौहार आनन्दमय बना रहे।

त्याग

[कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर

(१)

रामधुनसे आस-पासके वातावरणको ध्वनित करते हुए बाबू दीनानाथने रिमझिम वर्षामें आफिस जाते समय एक करुण क्रन्दन सुना। विलम्बसे पहुँचनेपर वेतन कटने तथा अधिकारीकी फटकार सुननेका भय उनके सामने आया; किंतु परोपकारका काम सर्वप्रथम करना है, यह निश्चय करके दीनानाथने कराहते हुए एक वृद्धको, जो सड़कके पास एक खड्डमें कीचड़से सना पड़ा था, तुरंत ही जाकर सम्हाला। देखा, उसके शरीरमें कई जगह चोटें लगी हैं और उनसे रक्त प्रवाहित हो रहा है, जिससे असह्य वेदना हो रही है। बातचीतके दौरानमें माल्रम कर लिया कि यह तो महामहोपदेशक पण्डित सूर्यकान्त द्विवेदीके पिता हैं। फिर पूज्य-भावसे पूछा—'पिताजी! आप यहाँ?'

'दिनोंका फेर है भैया! एक ट्रककी टक्करसे गिर पड़ा हूँ। ट्रकवाला ठहरा भी नहीं, सपाटेसे अपने ट्रकको दौड़ा ले गया।'

'राम-राम, किंतु मैं जानना चाहता हूँ कि घरवालोंने आपको कैसे निकलने दिया। आपके परम विद्वान पुत्र सूर्यकान्तजी एक प्रतिष्ठित संस्थाकी ओरसे महोपदेशक हैं। कल बजरंग बाजारमें उनका हजारों श्रोताओंके बीच 'माता-पिताकी सेवा करना परम धर्म है' इस विषयपर बड़ा ही ओजस्वी भाषण हुआ था।'

वृद्ध जैसे चैतन्य हो उठे। बोले—"भैया, 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' वाली बात है। घरमें जो-जो कष्ट हमें हैं, उन्हें हमारा हृदय ही जानता है। खास तौरपर आपके उन्हीं महोपदेशकजीके कठोर वचन मेरी सहनशक्तिके बाहर हो जाते हैं। अगत्या मैंने घर छोड़ देना ही मुनासिब समझा।"

दीनानाथने सर्वप्रथम अपने रूमालसे वृद्धके घावोंसे बहते रक्तको पोंछा। जब रूमाल रक्तसे तर हो गया, तब अपनी कमीजके एक भागको फाड़कर उससे सभी रक्त पोंछकर साफ़ किया और पास ही पलासके पत्तोंके दोनेमें बहते झरनेका पानी लाकर चोटोंको धोया और विचार करने लगे कि 'इन्हें घरपर कैसे ले जाऊँ। यहाँ निर्जन मार्गपर कोई सवारी भी नहीं मिलती। कंधेपर इतनी दूर मुझसे ले जाना बनेगा नहीं।'

इतनेमें ही पुलिसकी एक जीप सरसराहट करती हुई वहाँ आकर रुकी; मानो भगवान्‌ने ही ऐसे जन-शून्य स्थानमें उसे दयापूर्वक भेजा हो। एक मोटे-ताजे महाशय खुशी-खुशी जीपसे उतरे। उनके मनमें हो रहा था—'सम्भव है, ये दोनों डाकू ही हों, तब तो काम बन जाय।' किंतु ज्यों ही उन्होंने दीनानाथकी ओर देखा, उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रही। बोले—'ओहो, जँवाईजी साहब! आप यहाँ कैसे, यह क्या मामला है?'

पुलिस इन्स्पेक्टर लादूराम दयालु प्रकृतिके प्रेमी भक्त थे। सारी परिस्थिति उन्होंने जान ली। दीनानाथ और रामचरणको वे अपनी जीपमें बैठाकर सूर्यकान्तके घर ले गये।

पण्डित सूर्यकान्त बड़े दुखी हो रहे थे। उन्होंने

पिताजीकी चारों ओर आस-पास, गाँवमें यहाँतक कि आदमियोंको दूर-दूर भेजकर खोज करायी, किंतु कोई पता न लगनेसे उन्होंने दो दिनतक भोजन नहीं किया। घरके अन्य लोगोंने भी केवल चाय पीकर दो दिन बिताये।

अब पिताजीको पाकर उनके हर्षकी सीमा नहीं रही। अपने हाथोंसे पिताजीके घावोंपर मरहम-पट्टी की और अपने पूर्वमें कहे हुए कटुवचनोंके लिये क्षमा माँगते हुए वे पिताके चरणोंमें गिर पड़े। आँखोंसे अविरल अश्रुधारा बह रही थी। सभी घरवाले प्रेमाश्रु बहा रहे थे। एक कारुणीक दृश्य उपस्थित हो गया था। दीनानाथके अश्रु भी रोके नहीं रुक रहे थे।

(२)

उधर विलम्बसे आफिसमें पहुँचनेके कारण दीनानाथको उनके उग्र अधिकारीने नौकरीसे अलग कर दिया। प्राइवेट कम्पनीके अधिकारी थे, जो चाहें सो होता था। दीनानाथकी कातर वाणी और विनीत अनुनय-विनयपर उन्होंने जरा भी ध्यान नहीं दिया।

नौकरी छूट जानेसे हृदयपर एक गहरी चोट लगी दीनानाथके; किंतु उस समय उन्हें परम हर्ष इस बातका मनमें हो रहा था कि 'आज मेरे हाथोंसे कुछ तो मानव-सेवा हो सकी।'

'आपके सिरपर जो हमेशा परोपकार सवार रहता है। अब बालकोंको क्या खिला-पिलाकर जीवित रक्खूँगी। दूधवाला, गेहूँवाला, मसालेवाला, लकड़ीवाला रोज तकाजे-पर-तकाजे करते हैं। उनसे कहाँतक झूठे वायदे करती रहूँ।' पत्नीने बड़े ही रुष्टभावसे कहा।

दीनानाथ बड़े मधुर शब्दोंमें बोले—'प्रिये! चिन्ता मत करो। भगवान् दूसरी जगह स्थान दिलायेंगे। रिजक-रोटीके देनेवाले वे ही हैं। उनके हजार हाथ हैं। वे छप्पर फाड़कर देते हैं। कोई उनके राज्यमें भूखा नहीं रहता। चींटीको कण, हाथीको मन भोजन देनेवाले वे ही सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् हैं। उन्हींपर भरोसा रक्खो।'

दीनानाथने कई दफ्तरोंमें आवेदन-पत्र दिये, स्वयं भी गये; किंतु द्वारपर लिखा मिला—'स्थान खाली नहीं' वहाँके अधिकारियोंसे भी यही उत्तर मिलता था। रोजगार बहुत प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल पाया। अबतक घरकी वस्तुओंको बेचकर गुजर चलाया, किंतु अब वे भी सब बिक गयीं। भूखे रहनेकी नौबत आ गयी। बालकोंका रुदन देखा नहीं जाता था।

अचानक डाकियेने एक लिफाफा लाकर दिया। अन्यमनस्क मनसे दीनानाथ उसे खोलकर पढ़ने लगे। एक बड़ी बैंकमें खजांचीकी जगहपर उन्हें नियुक्त करनेकी स्वीकृति उसमें थी; किंतु साथ ही यह भी लिखा था कि ५००) रुपयोंकी नकद जमानत देनी होगी।

हर्ष और शोकके साथ पत्रको हाथमें लेकर दीनानाथ वहीं बैठ गये। यहाँ तो पाँच पैसेका भी प्रबन्ध नहीं है।

पत्नी रुक्मिणी आयी बोली—'आज आपको क्या हो गया है, भजन-पूजन अभीतक नहीं किया?'

'प्रिये! यह लो पत्र। नौकरी तो मिल गयी पर नकद जमा कराना क्या सरल समझती हो?'

'हाँ, सरल हो जायगा। जिस हजार हाथवाले दाताने यह सुयोग बैठाया है, वही आगेकी दुर्गम घाटी भी पार करायेगा। आपने ही तो कहा था कि उसीपर भरोसा रखना चाहिये।'

'आज दोनों कैसे उदास बैठे हो ?' सेठ कजोड़ीमलने आते ही प्रश्न किया ।

'क्या करें ! नौकरी तो मिल गयी पर उसमें एक ऐसी बाधा उपस्थित है कि जिसे हम कभी पूरी नहीं कर सकते । यही उदासी है ।'

सेठ कजोड़ीमलने जब जाना कि इनकी जमानतके ५००) रुपये नक़द जमा कराये बिना इन्हें नौकरीपर नहीं लिया जा सकेगा, तो ये दृढ़तापूर्वक तत्काल बोल उठे—'इसमें उदासीकी क्या बात है ! यह लो मुझसे पाँच सौ रुपये और इन्हें जमा कराकर अपने स्थानका काम करना शुरू करो ।'

दीनानाथने कुछ दबे हुए शब्दोंमें कहा—"सेठजी साहब ! मेरे ऊपर पहले ही आपका बहुत-सा ऋण है—मेरा किया हुआ और पिताजीके समयका । उसे मैं चुका नहीं पा रहा हूँ । फिर यह नया भार मैं कैसे सहन कर सकूँगा । मेरे पास शब्द नहीं हैं कि जिनके द्वारा आपकी इस अयाचित उदारताकी प्रशंसा कर सकूँ । किसी शायरने कहा है कि 'आदमी जुल्मका मारा तो पनप जाता है, महरबानीसे मिटाते हो यह क्या करते हो ।' मैं आपकी कृपाके भारसे दबा जा रहा हूँ ।"

"मुझे अन्तःप्रेरणा हो रही है । इसीसे रुपये देनेको उतावला हो रहा हूँ । कहा है कि 'नीयत जैसी बरक्कत, रूह जैसे फरिश्ते ।' मैं आपकी ईमानदारी, सचाई, कष्टसहिष्णुता और भूखे रहकर भी ऋण चुकानेकी लगनको वर्षोंसे भलीभाँति जानता हूँ । अतः यह रुपया आपको देकर मैं सुखका अनुभव करूँगा । अतः आप इनको अवश्य स्वीकार करें । आपके यह गरीबीके दिन रहने नहीं हैं । मेरे कर्ज चुकानेकी चिन्ता थोड़ी भी न करें । व्यापारमें प्राप्त धनको यदि हम ऐसे सत्कार्यमें न लगावें, तो वह पड़ा-पड़ा लोहा बन जाता है, यह निश्चय जानिये ।"

'नहीं, मेरी आत्मा यह रुपया लेनेको आज्ञा नहीं दे रही है । कर्ज-पर-कर्ज, भोजन-पर-भोजन भला कैसे पच सकता है ?'

'दीनानाथजी ! मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि यह रुपया आपसे कभी नहीं माँगूँगा । आपको विश्वास न हो तो पहलेसे ही यह लिखंत लिखे देता हूँ ।'

यह कहकर सेठ कजोड़ीमल कागज-कलम लेकर दीनानाथपर सभी ऋणकी रसीद लिखने लगे । किंतु दीनानाथने हाथ पकड़ लिया ।

'तो फिर आपको यह रुपया लेना होगा ।' कजोड़ीमल गम्भीर भावसे बोले ।

दीनानाथके मुखमण्डलपर लज्जाकी एक सिकुड़न थी । वे अपने दोनों हाथोंको धीरे-धीरे पीछेकी ओर सिकोड़ रहे थे । किंतु कजोड़ीमल उनकी तरफ रुपये बढ़ानेमें संलग्न थे । कुछ क्षण इसी प्रकार आग्रह-निषेधमें बीत गये । अन्तमें सेठ कजोड़ीमलने दीनानाथकी हथेलियोंको बरबस अपनी ओर खींचकर उनपर ५००) रु० के नोट रख ही दिये ।

उस समय आकाशमें सूर्य भगवान् मानो इस अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये घने बादलोंसे बाहर निकल आये थे !*

* *इसमें आये हुए नाम सभी कल्पित हैं—लेखक*

जीभपर अमृतका झरना

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

बचपनमें बूढ़ी नानीसे एक कहानी सुनी थी। कहानीका तत्त्व यह था कि साँपका डँसा हुआ भी जी जाता है किंतु जीभका डँसा बुरी तरह तड़प-तड़पकर, रिस-रिसकर, बिन्दु-बिन्दु मरता है। तब समझ नहीं पाया; अचेत था। किंतु ज्यों-ज्यों उम्र होती गयी, दुनियामें घूमने-फिरनेके अवसर मिले। आँखें खोलकर देखना पड़ा, तब समझमें आया कि जीभ भी डँसती है और डँसती ही नहीं, ऐसा डँसती है कि मुँहसे आहतक नहीं निकलती और शरीर-मन सब जलकर क्षार हो जाता है।

कहते हैं, प्रकृतिने जीभपर अमृतका लेप किया था। पशुओंको चोट लग जाती है, घाव हो जाता है तो वे उसे जीभसे चाट-चाटकर अच्छा कर लेते हैं। किंतु मनुष्य तो पशुका स्वामी ठहरा, वह भला पशुसे क्यों सीखने लगा? शायद इसीलिये हमारी जीभका अमृत-लेप सूखता जा रहा है। जीभपर अमृतका एक झरना था, अब सूख गया है। स्वभावतः तीखे काँटोंसे क्षेत्र भर गया है और झरनेके आस-पास जो कलियाँ खिलती थीं और फिर चटखकर फूल बन जाती थीं, वे फूल मुँहसे झरते थे और गृहको सुगन्धसे भर देते थे, वह सब तेजीसे स्वप्न होता जा रहा है।

पहले छुटपनसे बच्चोंको बोलना सिखाया जाता था—किससे कैसे बोलना चाहिये, कब बोलना चाहिये। गुरुजनोंके प्रति विनीत होकर श्रद्धापूर्वक बोलना, अपनेसे छोटोंके प्रति गहरे स्नेह एवं करुणाके साथ बोलना और बराबरवालोंसे मैत्रीभावसे बोलना। एक क्रूर विद्रोहकी वाणी उन सबको निगल गयी है। हमारा तरुण वर्ग समझता है कि जैसे यह उसकी बहुत बड़ी सफलता है, बड़ी उपलब्धि है; क्योंकि उसकी दृष्टिसे जो कुछ जीर्ण है वह तो मिटनेके लिये है ही और जब उसे एक दिन मिटना ही है तो लात मारकर उसे तोड़ देना, मिटा देना ज्यादा अच्छा है। बाढ़ जब आती है तो कूल—कछारोंकी परवा नहीं करती। जो है, उसे तोड़ती, डुबाती चलती है।

कौन कहे इनसे कि शतियोंके प्रयत्नके बाद यदि मानवने केवल मिटाना ही सीखा है और यह भी न जाना कि कालके सत्यमें न प्राचीन कुछ है, न नवीन कुछ है, तो समझिये कि कुछ न जाना, कुछ न सीखा। यह पुराना और नया मानवकृत कृत्रिम भेद है। सत्यकी स्पृहा जहाँ है, शिवकी जिज्ञासा जहाँ है, मङ्गलकी साधना जहाँ है—वहाँ पुराना-नया-जैसा कुछ नहीं है! इन्द्रियजन्य ज्ञान और प्रेरणा तथा अनुभवसे मनुष्य सीखता है। नया केवल पुरानेका संस्कारमात्र है; शरीरमात्र नया होता है, प्राणशक्ति, अन्तःप्रेरणा पुरानी ही होती है—यही है मानवकी निरन्तरता। इन्द्रियाँ नयी, आत्मा पुरानी—इसीलिये कभी पुरानी नहीं। परिवेश नया, प्रेरणा पुरानी; शैली नयी, विचार पुराने; अभिव्यक्ति नयी, प्रवृत्ति पुरानी। इसीसे कालको लाँघती हुई संस्कृतिकी निरन्तरता, संस्कृतिकी धारा अक्षुण्ण रहती है— मङ्गलके लिये मानवकी साधनाकी निरन्तरता; यही शिवकी मानसी पूजा है।

हाँ, तो मैं कहना यह चाहता हूँ कि आजके जीवनमें जो संघर्ष है, अपनेको भी बार-बार काट देना है, आत्म-अस्वीकृति है, वह कुछ तो परिस्थिति-वश है और कुछ अपनी बनायी हुई;—आदमीके अपने ऊपर नियन्त्रण न रह जानेके कारण है। अपनी विवशताकी अनुभूतिके कारण है। आश्चर्य तो यह है कि जब आधुनिक मानवताके चरणोंमें विज्ञानने शक्तिके अगणित उपहार रख दिये हैं तब मानव मानसिक धरातलपर दीन एवं पंगु बन गया है। उसकी खीझ यही अपनेको अंगीकार न कर सकनेके कारण है।

जो कठिनाइयाँ हमारे मनकी हैं, हमारी पैदा की हुई हैं, स्वभावगत हैं, उन्हें दूर करना ही मानवका पुरुषार्थ है। हम दूर न जाकर जब अपने ही चतुर्दिक् अपने परिवारोंमें देखते हैं तो ऐसा लगता है कि आज वाणीके असंयमके कारण जीवनका सौख्य लुप्त होता जा रहा है। पुरुषने अपनेको परिस्थितिकी धारामें डाल दिया है; जीवन-संघर्ष प्रबल हो जानेके कारण और अपने मनका व्यवहार जीविका-क्षेत्रमें न पानेके कारण वह खीझसे भरा, दयित अहंसे अस्थिर, अतृप्तिसे पीड़ित है। उसके मनकी इस अतृप्तिका आंशिक समाधान गृह है, जहाँ एक अनुगता एवं सहधर्मा नारी, एक प्रेममयी माँ, एक स्नेहार्द्र सहोदराकी कल्पनाने उसके लिये एक शान्ति-लोक, एक स्वर्ग, एक विश्राम-कक्षकी रचना की है। क्या होगा यदि यह स्वर्ग नरकके रूपमें बदल जाय? क्या होगा यदि शान्ति-लोकसे विषभरी ज्वालाएँ उठने लगें? क्या होगी मनोदशा यदि प्यारके रससे भरी धरती उसके चरणोंके नीचेसे हट जाय और दुनियामें उसे क्षणभर ठहरकर दम मारनेकी जगह भी न रहे?

अगणित गृह जीभके विष-दंशसे मिट्टीके ढेर मात्र रह

गये हैं; अगणित हृदय—उमंगोंसे भरे हृदय, सम्भावनाओं-से पूर्ण हृदय, शुभ कामनाओंसे प्रेरित हृदय, सूखकर काष्ठ-जैसे कठोर हो गये हैं। जीभके विषमें बुझे एक बाणने मानवको देवतासे क्रूरकर्मा राक्षस बना दिया है; देखते-देखते हरी-भरी, यौवन एवं जीवनके रससे प्लावित गृहस्थियाँ चिता-की भाँति धू-धू करके जल गयी हैं और आदमी बस देखता रह गया है—सम्मोहित निष्प्राण !

संसारके रथकी वल्गा नारीके हाथ है। वही है उसे चलानेवाली। वही है गृहस्थ-जीवनकी अधिष्ठात्री देवी; वही है सतत दानमयी अन्नपूर्णा। दानकी वृत्ति उसमें सहज है—पालनकी वृत्ति उसमें सहज है। प्यारके लिये, सेवाके लिये दान—सर्वस्व दान भी उसके लिये सहज है और इसी दानसे, यही अपनेको देकर वह बर्बर असंस्कृत अहंमें डूबे बाधा-बन्ध-विहीन पुरुषको पालतू, ग्रहणशील, संयत, नियन्त्रित बना पाती है। मधुर भाव ही नारीका सर्वस्व है। अमृतका दान ही उसकी प्रवृत्ति है और प्रणत होकर शिरोभूषण बन जाना ही उसकी कला है। पुरुषके पराक्रमसे जब नारीकी करुणा, नारीकी ममता, नारीकी सतत स्नेह करनेकी शक्ति-का विनियोग होता है, तब गृह स्वर्ग बन जाता है।

जो नारी बोलनेमें शर्बत घोलती है और हँसनेमें जिसके मुँहसे फूल झड़ते हैं, वह लक्ष्मी-स्वरूपा है, नारायणी है, कल्याणी है। उसको पाकर गृह धन्य हो उठता है। पुरुष-के मन एवं वाणीके काँटे उसकी अमृत-धारामें बह जाते हैं, कर्दम एवं मल सब धुल जाता है; उसके चतुर्दिक्‌का वातावरण हलका, उमंगोंसे भरा, स्फूर्तिदायी हो उठता है।

मैं जानता हूँ कि किस प्रकार लक्ष्मीनारायणकी स्वर्ग-सी गृहस्थी वाणीके विषसे देखते-देखते राख हो गयी। किन साधोंसे वह घरमें पुत्रवधू लाये थे। बहूमें गुण कम न थे। पाककलामें पारङ्गत, सीने-पिरोने, कसीदे इत्यादिकी कलामें कुशल, गा भी लेती थी। किंतु बड़ी तुनुक-मिजाज, रह-रहकर भभक उठनेवाली, बात-बातमें ससुरालपर व्यंग और अपने मायकेकी बड़ाई। कभी सासने सामान्य भाव-से कह दिया कि बहू ऐसा कर लेना, यह बना लेना। बस, वह बोल उठती— 'करूँगी क्यों नहीं अम्माजी, लौंडी बनकर तो आयी ही हूँ। बापने बेच दिया है, बस, आज्ञाका पालन करना तो मेरे भागमें है ही।' और दिनभरकी खीझ वह सीधे-सादे यूनिवर्सिटीके अध्यापक पतिपर, जो प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्ता भी थे, उतारती—'व्याख्यान तो आप बहुत देते हैं कि औरतोंके साथ यह होना चाहिये, वह होना चाहिये, पर जब वक्त आता है, भीगी बिल्ली बन जाते हैं। मैं क्या जानती थी कि हाथीके दाँत खानेके और दिखानेके और होते हैं। आप मुझे घरकी दासी बनानेके लिये ही लाये थे ?' ऐसी बातें सुनते और पति महोदय सहम कर रह जाते। इस तरहकी बातें जब-तब होती रहीं। नतीजा यह हुआ कि सबके दिल एक-दूसरेसे फट गये। सदिच्छाओंके होते हुए, स्नेहके होते हुए, सुविधाओंके होते हुए भी लोगोंने दुर्भाग्यके आगे कंधे डाल दिये।

मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या मिला इस नारीको ? क्या दिया उसने पतिको ? जिस घरमें वह आयी थी और जिसकी मालकिन बन सकती थी, जिसकी रानी हो सकती थी, अपनी मुस्कानमें जिसमें चाँदनी भर सकती थी, अपने हृदयके रससे सींचकर जिस घरको अटूट, अभेद्य बना सकती थी; जिसे लेकर स्वयं निर्मित हो सकती एवं दूसरोंका निर्माण कर सकती थी; उसे अपनी विषैली जिह्वाके डंक मार-मारकर उसने समाप्त कर दिया—खुद मर गयी और दूसरोंको मार दिया। मैं उसे मरना ही कहूँगा, ऐसा जीवन जिसमें उमंगें नहीं, निराशाओंके गर्तमें सदाके लिये डूबी घिसटती जिंदगी; जिंदगी जिसमें पग-पगपर काँटे हैं, लू है, तपन है, खीझ है, पतझड़ है परंतु जहाँ वसंतका कोकिल एक बार भी नहीं बोलता, जहाँ फूल कभी नहीं खिलते, जहाँ दक्षिण पवन कभी नहीं बहता—मौतसे भी भयानक, अंदरसे सुलगती हुई जिंदगी। जरा-सी अकड़, जरा-सी असावधानी, तीखे दो बोल, जिह्वाके डंकने कितना महँगा सौदा कर लिया। उसके पति अन्तमें यक्ष्माके शिकार हुए। किंतु वह जीते रहते तो भी स्थितिमें कोई अन्तर न पड़ता। सर्वनाशिनी जिह्वा सब कुछ चाटकर ही शान्त होती !

यदि लक्ष्मीनारायणका मामला व्यक्तिगत होता तो शायद मैं उसकी चर्चा भी न करता, परंतु उनके घर जो दुर्घटना घटी, आज एक सामान्य बात हो गयी है। यह जहर घर-घर फैलता जा रहा है।

किंतु ऐसा भी नहीं है कि दुर्भाग्यकी इस अँधियारीमें सौभाग्यकी चाँदनी कहीं है ही नहीं। आज भी सैकड़ों घरोंमें नारीके गृहलक्ष्मी और कल्याणी रूपके दर्शन होते हैं; लक्ष्मी, सीता एवं अन्नपूर्णाएँ आज भी अस्तित्वहीन नहीं हो पायी

हैं। मरुभूमिमें सैकड़ों घर हरित शाद्वलकी भाँति, स्वर्गोपम बने हुए हैं।

बड़ा गरीब था सक्सेना! बाप बचपनमें मर गये थे, घरमें दो छोटे भाई, दो बहिनें और माँ। कोई चारा नहीं, सहारा नहीं। परंतु दृढ़ निश्चयके पगोंकी गति कौन रोक सकता है? पुस्तकालयसे किताबें ले-लेकर उसने पढ़ाई की; ट्यूशन करके इधर-उधर काम करके बहिन-भाइयोंको भी पढ़ाता रहा वह। कालान्तरमें सब कष्ट दूर हो गये। बहिनें अच्छे घर गयीं; भाई भी कामसे लग गये हैं। उसने डरते-डरते अपनी शादी की किंतु बहू क्या आयी कि घरके भाग्य खुल गये—अँधेरेमें जैसे बिजलीकी कौंध हो। उसके पिता भी उसे बहुत छोटी छोड़कर मर गये थे। मामाके यहाँ पली। पढ़ा-लिखा, फिर अध्यापन-कार्यसे कई हजार रुपये एकत्र किये। इन्हीं रुपयोंसे मामाने उसका विवाह कर दिया। बोलती तो ऐसा लगता कि मुँहसे शब्द नहीं, रसगुल्ले टपक रहे हैं। सासके चरणोंमें ऐसी चिपटी मानो उसे अपनी खोयी माँ मिल गयी। दिन-रात घरके काममें लगी रहती। इतना परिश्रम करती कि लोग देखकर दाँतों-तले उँगली दबाते। एक दिन सक्सेनाने कहा—'मुझे बड़ा दुःख होता है कामिनी, कि जबसे मेरे घर आयी हो, तुम्हें चैन नहीं, जरा भी विश्राम नहीं।' कामिनी बोली—'आप कहते क्या हैं? मैं तो कुछ जानती-वानती भी नहीं। परंतु यह मेरा घर है। मैं इसे ठीक न रखूँगी, मैं न करूँगी तो कौन करेगा? आपको और अम्माको जरा भी सुखी कर पाती हूँ तो आनन्दसे मन भर जाता है। यही है मेरी शक्ति। मैं कभी नहीं थकती।' सदा रससे भरी-भरी, उमगी-उमगी। कभी यह किया, कभी वह किया। घरमें, घरके प्रत्येक व्यक्तिमें समा गयी है। जहाँ देखो, वही है। घर उसके हृदय-रससे छलकता रहता है, कामिनी थोड़ी देरके लिये भी कहीं चली जाती है तो हर एक उसके अभावका अनुभव करता है। हर आदमी उससे खुश है; क्योंकि वह हर एकसे खुश है। हर आदमी अनुभव करता है कि उसके घर गृहदेवी आ गयी है। रससे छकी, प्रेममें पगी, उमंगोंमें रँगी कामिनीको पाकर घर धन्य हो गया है।

यह घर लक्ष्मीनारायणजीके घरकी अपेक्षा गरीब, सामान्य-सा घर था—परिस्थितिका मारा। सुविधा-सुखकी सामग्रीके नामपर यहाँ कुछ न था, परंतु जहाँ पहले घरमें सब कुछ होकर भी प्राण ही न था, तहाँ इस घरका कंकाल गहरी प्राणवत्तासे पनप उठा था। हर बात मार्दवमें सनी, हर चीज रसमें डूबी, मानो गृहदेवीकी मुस्कराहटमें द्वार एवं दीवारें गद्गद हो उठी हों; मानो उसकी मधुर वाणीमें दैन्य, दुःख, अभाव, अतृप्तिके कुश-कण्टक गल गये हों।

आपने कभी मुस्कानका सम्मोहन देखा है? आपने कभी प्यारकी वाणी सुनी है? यदि देखी और सुनी हो तभी आप उसका रस ग्रहण कर सकते हैं। मृतक जी उठता है; जीर्ण रोगी स्वस्थ हो जाता है। दूसरेके लाभके अतिरिक्त मृदुला जिह्वाकी स्वामिनी स्वयं सबसे अधिक लाभमें रहती है। पहले तो वही जीती है, तब दूसरेको जिलाती है। पहले वही आशासे तरंगित होती है, प्रेमसे भर उठती है, रससे उमड़ती है। उसमें शक्तिकी धारा फूटती है। स्प्रिंगपर जैसे बड़ा भार भी तुल जाता है, वैसे ही मृदुल हृदयके रससे धुलकर काँटे भी फूल हो जाते हैं? प्रेमकी सबसे बड़ी सार्थकता भी तो यही है कि वह कभी घटता नहीं, कभी थकता नहीं, कभी रिक्त नहीं होता; और न यही देखता है कि दूसरा उसे क्या देता है, उसके लिये क्या करता है। उसका आनन्द अपनेको देने, अपनेको उँडेलनेमें है, दूसरेका दान ग्रहण करनेमें नहीं। नारी तर्कसे नहीं, अन्तःप्रेरणासे इसे समझ पाती है और जो समझ पाती है वह अपने इंगितमात्रसे चतुर्दिक् स्वर्गकी रचना करती चलती है।

जीवनपर मरणका अन्धकार छा गया है। काल-भुजंगके फूत्कार-सी आँधियोंमें मन अस्थिर है। कटुताकी बाढ़ आ रही है। मानव-संस्कृतिकी सम्पदाएँ विचलित हैं। ऐसे समय दो मीठे बोल, प्राणोंके रसमें डूबे बोल सुननेके लिये प्राण बिकल हैं। ऐसे संकट-कालमें घर-घर जगज्जननीकी कलाओंमें व्यक्त होकर तुम उठो। जीभपर अमृतका झरना बहने दो; गृहको पावन होने दो, नरकको स्वर्ग बनने दो, मरुस्थलीमें फूल खिलने दो—यही है तुम्हारा गौरव; यही है तुम्हारी सार्थकता, यही है तुम्हारे जीवन-शब्दका अर्थ। हृदय-का अमृत जीभपर उमड़ने दो। झरनेके ऊपरसे कठोरताके शिलाखण्डको, आवरणको हटा दो। अब देखो, तुममें कितना रस है, कितना जीवन है, कितना अमृत है।

रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ

(लेखक—डॉ० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम्० ए०, पी०-एच्० डी०)

(१)

[हिरण्याक्ष और वराह]

'मानस' में इस कथासे सम्बन्धित दो चौपाइयाँ हैं—एक अयोध्याकाण्डमें और दूसरी लंकाकाण्डमें। चौपाइयाँ इस प्रकार हैं:—

सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल गुन गन जगजोनी॥
(राम० अयो० दो० २९७ चौ० ३)

अति बल मधु कैटभ जेहिं मारे। महाबीर दितिसुत संघारे॥
(राम० लं० दो० ६, चौ० ७)

विषय-वस्तुकी दृष्टिसे यह कथा 'देवता परिकर' के अन्तर्गत आती है; क्योंकि अवतारवादके महत्त्वको दिखानेके लिये ही इस प्रकारकी प्रासङ्गिक कथाओंका सृजन 'मानस'में हुआ है। जहाँतक उद्देश्यका सम्बन्ध है, उपर्युक्त कथाको हम 'धार्मिक वर्ग'के अन्तर्गत ही मानते हैं। धर्मका बड़ा ही विस्तृत क्षेत्र है। धर्म सामूहिक भी होता है और व्यक्तिगत भी। सामूहिक धर्ममें लोकोपकारकी भावना निहित होती है तथा व्यक्तिगत धर्ममें आत्मकल्याणके संस्कार कार्य करते हैं। 'मानस'की अन्तःकथाओंमें भक्तिमूलक जितने भी आख्यान हैं, वे सब धर्मकी व्यक्तिगत साधनाकी कोटिमें आते हैं तथा जिन आख्यानोंमें लोकमङ्गलकी कामनासे भगवान्‌के अवतारवादकी चर्चा है, वे सभी सामूहिक धर्म साधनाकी कोटिके अन्तर्गत हैं। दैत्येन्द्र हिरण्याक्षसे पीड़ित पृथ्वीकी रक्षाके लिये भगवान्‌को वराहरूपमें अवतीर्ण होना पड़ा; लोकमङ्गलकी भावना कथातन्तुओंसे स्वतः ही स्पष्ट है।

इस कथाके दो रूप हैं—एक तैत्तिरीय संहितामें वर्णित है और दूसरा महाभारतमें उल्लिखित है[1]। तैत्तिरीय संहितामें स्वयं प्रजापति ब्रह्माद्वारा ही वराह-रूप धारणकर जलके मध्यसे पृथ्वी-उद्धारकी कथा मिलती है। इस ग्रन्थमें पृथ्वी-उद्धारकी कथा अवश्य वर्णित है, लेकिन प्रजापतिसे हिरण्याक्षके युद्धका कोई प्रसङ्ग उल्लिखित नहीं है। इसके विपरीत 'महाभारत'में विष्णुद्वारा पृथ्वी-उद्धारकी कथाका वर्णन है और इसी ग्रन्थमें सर्वप्रथम हिरण्याक्षके वधके लिये विष्णुका प्रयास दिखाया गया है। हिरण्याक्षका नाम भी हमें सर्वप्रथम महाभारतमें ही मिलता है। महाभारतकी कथाका अनुकरण आगे चलकर अनेक पुराण-ग्रन्थोंमें किया गया[2]; जब कि तैत्तिरीय संहिताका प्रभाव विष्णु, वायु, कूर्म तथा ब्रह्माण्ड पुराणोंमें ही देखनेको मिलता है[3]। दोनों ही कथा इस प्रकार हैं—(अ) तैत्तिरीय संहितासे प्रभावित कथा—'महाप्रलय हो जानेपर जब समस्त सृष्टि जलमय थी, उस समय ब्रह्मामें सृष्टि-रचनाकी आकाङ्क्षा उत्पन्न हुई। उन्होंने वायुका रूप धारणकर जलमें डूबी हुई पृथ्वीकी खोज की। क्षणमें ही उन्हें पृथ्वीका एक किनारा दिखायी दे गया। उन्होंने तत्काल ही वराहका रूप धारण किया और पृथ्वीको दाँतोंसे पकड़कर उसे जलके ऊपर स्थिर कर दिया। बादमें उन्होंने पृथ्वीको कई रूपोंमें विभक्तकर सृष्टि रचना की[4]।' विष्णुपुराणमें भी यह कथा इसी रूपमें मिलती है, जहाँ ब्रह्माने ही वराहका रूप धारणकर पृथ्वीका उद्धार किया है। विष्णुपुराणमें तो यहाँतक लिखा है कि ब्रह्माने वराह अवतारसे पूर्व मत्स्य और कूर्म-रूप भी धारण किया था[5]। कूर्मपुराण पूर्वार्द्ध अ० ६ में इस घटनाको नाटकीयतासे आबद्ध कर दिया है। वहाँ कथा इस प्रकार है—'महाप्रलय हुआ, जिसमें पृथ्वीवासी स्थावर-जङ्गम पदार्थ सभी नष्ट हो गये। तब ब्रह्माको पृथ्वीके उद्धार और पुनः सृष्टि-रचनाकी चिन्ता हुई। वह चिन्तित हुए ही थे कि सहसा उनकी नासिकासे अङ्गुष्ठमात्रका एक लघु शूकर निकला। ब्रह्माके देखते-ही-देखते वह शूकर महाविशालकाय हो गया। ब्रह्मा कुछ सोच भी नहीं सके कि सहसा वह शूकर जलमें कूद पड़ा। क्षणमात्रमें वह दाँतोंपर पृथ्वीको उठाये हुए जलसे बाहर निकला और पृथ्वीको जलपर स्थितकर अन्तर्धान हो गया।' यहाँ वराहको ब्रह्मरूप न मानकर ब्रह्मासे उत्पन्न दिखाया गया है। ब्रह्माण्डपुराणमें भी वराहको ब्रह्माकी नासिकासे ही उत्पन्न बताया है। स्पष्ट है पृथ्वी-उद्धारमें वराहका पूर्ण योगदान दिखाकर भी तैत्तिरीय संहितासे प्रभावित इस कथाप्रसङ्गमें यहाँ वराहद्वारा हिरण्याक्ष-वधकी ओर कोई संकेत नहीं है। महात्मा तुलसीने इस अन्तःकथामें वराहद्वारा हिरण्याक्ष-वधकी चर्चा की है[6]। निश्चित है तुलसीका आधार तैत्तिरीय संहिता या

१. विस्तारके लिये देखिये—तैत्ति० सं. ७।१।५।१ तथा महाभा० वन० १४४।२९; शान्ति० २०७।६।

२. पद्म० सृष्टि० ७३; शिव० रुद्र० ४२; भाग० ३।१५; देवीभा० ८।२ तथा अग्नि० ४।

३. वायु० ६. विष्णु० १. ४; कूर्म० पूर्व० अध्याय ६ तथा ब्रह्माण्ड० पूर्व० प्रक्रिया० अ० ५।

४. वायु० ६ अ०। ५. विष्णु० १।४।७-८।

६. रामा० लं० ६।७।

उससे प्रभावित ये उपर्युक्त पुराण-ग्रन्थ नहीं, अपितु महाभारत या उससे प्रभावित पुराण-ग्रन्थ ही हैं। महाभारतमें यह कथाप्रसङ्ग इस प्रकार है—

(आ) 'हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष महर्षि कश्यपके औरस दितिके पुत्र थे। ये पूर्वजन्ममें विष्णुके पार्षद जय-विजय थे, लेकिन सनकादिके शापसे इनको राक्षस-योनिमें आना पड़ा। हिरण्याक्ष बल-दर्पसे पृथ्वीको उठाकर पातालमें ले गया। देवता विष्णुकी शरण गये। विष्णुने देवताओंको अभय दे वराहका रूप धारण किया और पृथ्वीको दाँतोंपर उठा शेषके मस्तकपर स्थिर किया। अनन्तर उन्होंने युद्धमें हिरण्याक्षका वध किया[1]।' महाभारतसे प्रभावित होकर यह कथा मुख्यतः पद्म, शिव, भागवत, देवीभागवत, अग्नि, लिङ्ग तथा सौर आदि पुराणोंमें मिलती है।[2] महाभारतके अनुसार वराहने जिस स्थानपर पृथ्वीका उद्धार किया, उसे वराहतीर्थ कहते हैं।[3] वराह पुराणके आधारपर वराह क्षेत्र बंगालमें कोकामुख क्षेत्रमें तथा गङ्गाके किनारे सोरों क्षेत्रमें प्रसिद्ध है।[4] वराहद्वारा हिरण्याक्षका वध इन उपर्युक्त पुराणोंमें कहीं-कहीं नृसिंहद्वारा हिरण्यकशिपुके वधसे पूर्व,[5] तथा कहीं-कहीं उसके वधके उपरान्त किया गया है।[6]

(२)

[राजा हरिश्चन्द्रकी कथा]

राजा हरिश्चन्द्र मान्धातृ-वंशमें त्रिशंकुके पुत्र थे। इनकी सत्यवादिता और धार्मिक प्रवृत्तिका जो स्वरूप परवर्ती साहित्य-में मिलता है, वह वैदिक-साहित्यमें उपलब्ध नहीं होता। वैदिक ग्रन्थोंमें इन्हें सामान्यतः मानव-प्रकृतिकी कमियोंसे पूर्ण दिखाया है। 'हरिश्चन्द्रके राज्यासीन होनेतक कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने वरुणसे प्रतिश्रुत होकर रोहितको पाया। इस प्रतिज्ञामें उन्हें रोहितकी बलि वरुणको देनी थी; पर पुत्र-मोहके कारण वह ऐसा नहीं कर सके। प्रतिज्ञा-भंग होनेपर वरुणने उन्हें अनेक कष्ट दिये। तब वरुणको प्रसन्न करनेके लिये उन्होंने शुनःशेपको खरीदा। जिस समय यज्ञभूमिमें रोहितके बदले शुनःशेपकी बलि दी जा रही थी उस समय विश्वामित्रने आकर शुनःशेपको बचायाँ।' ऋग्वेदमें इस कथाका इतना विस्तार तो नहीं मिलता, किंतु शुनःशेप-द्वारा वरुणके प्रति की गयी अपनी बन्धन-मुक्तिकी प्रार्थना-सम्बन्धी ऋचाएँ अवश्य मिल जाती हैं, जिसमें निर्विवाद इस कथाका मूल रूप सुरक्षित हैं[8]। विस्तारसे आगे चलकर यह प्रसङ्ग ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीयसंहिता, काठकसंहिता, मैत्रेयोपनिषद् तथा सांख्यायन श्रौत-सूत्रमें भी मिल जाता है[9]। इस प्रकार स्पष्ट है, वैदिक-साहित्यमें राजा हरिश्चन्द्रकी मिथ्यात्व प्रकृतिका ही परिचय मिलता है। इनकी सत्य-निष्ठाका विकास तो परवर्ती पुराण-ग्रन्थोंमें ही हुआ है, यद्यपि ब्रह्म०, पद्म० आदि पुराणोंमें वैदिक-कालिक कथा-की झलक भी मिल जाती है। भागवतमें इस कथाके दोनों रूपोंकी झाँकी है। स्कन्ध ९ अध्याय ७ में भागवतपर वैदिक-आख्यानका प्रभाव है, किंतु अध्याय ८ में प्राप्त कथाप्रसङ्गसे हरिश्चन्द्रकी धार्मिक प्रवृत्तिका भी परिचय मिल जाता है। जिसमें वह राजसूय यज्ञके अवसरपर दक्षिणास्वरूप विश्वामित्रको अपना सर्वस्व दान देते हैं। एक ही ग्रन्थमें दोनों घटनाओंका उल्लेख इस बातका साक्षी है कि शुनःशेपवाली घटनासे सम्बन्धित हरिश्चन्द्र और सत्यवादी हरिश्चन्द्र दोनों एक ही व्यक्ति हैं। भागवतके बाद देवीभागवतमें स्कन्ध ७ अध्याय १४–२७में बड़े विस्तार-से इस कथाका निरूपण हुआ है। अध्याय १४–१७ में यहाँ भी शुनःशेप और रोहितकी कथाका वर्णन है और इसके बाद अध्याय १८–२७ तक हरिश्चन्द्रकी सत्यवादिता-से सम्बन्धित कथाका उल्लेख है।

महात्मा तुलसीने मानसकी निम्न चौपाइयोंमें हरिश्चन्द्रकी कथाका संकेत दिया है—

सिबि दधीचि हरिचंद कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी॥
(अयो० ४८। ५)

तथा

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥
(अयो० ९५। ३।

इसमें पूर्वकी चौपाईमें सामान्य रूपमें हरिश्चन्द्रकी कथाका उल्लेख है, जब कि बादकी चौपाईमें हरिश्चन्द्रकी धार्मिक सत्यवादी प्रकृतिकी ओर स्पष्ट संकेत है। पूर्वकी चौपाईमें भी हरिश्चन्द्रकी कथाका उल्लेख राजा शिवि और महर्षि दधीचिके साथ हुआ है। राजा शिविकी दानशीलता और महर्षि दधीचिकी त्यागवृत्ति उनकी धार्मिक प्रवृत्तिकी द्योतक है, अतः निश्चित है कि राजा हरिश्चन्द्रका शिवि और

१. महाभारत वन० १४४। २९ तथा शान्ति० २०७। २. पद्म० सृष्टि० ७३; शिव० रुद्र० ४२; भाग० ३। १५; देवीभा० ८। २; अग्नि० ४; लिङ्ग पू० ९४; तथा सौर० २९। ३. महाभा० वन० ८१। १८। ४. वराह० १४०। ५. पद्म०, भाग०, देवीभा०, लिङ्ग तथा शिव० वही। ६. अग्नि तथा सौर० वही। ७. विस्तारसे देखिये ब्रह्मपुराण अ० १०४ तथा पद्म० सृष्टि० अ० ८।

८. ऋग्० १। २४। ९. दे० ऐत० ब्रा० ७। १३–१८; तैत्ति० सं० ५। २। १। ३; का० सं० १९। ११; मैत्रे० उप० १। ४ तथा सां० सू० १५। १७–२०

दधीचिके साथ उल्लेख करनेमें तुलसीकी दृष्टि उनके धार्मिक और सत्यवादी अंशकी ओर ही है। अयोध्याकाण्डकी ही दोहा ९५, चौपाई ३ की पंक्ति तुलसीके उपर्युक्त दृष्टि-कोणको और भी बल दे रही है। अतः नीचे हम देवी-भागवतके आधारपर हरिश्चन्द्रकी सत्यप्रियताकी कथाका ही संक्षेपमें निरूपण कर रहे हैं।

"राजा हरिश्चन्द्रने एक बार राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया। उसने वसिष्ठको इस यज्ञमें द्रव्यादिसे अति पूजित किया। यज्ञसूत्र बाँधे हुए वसिष्ठ इन्द्रकी सभामें गये। वहाँ विश्वामित्र-से उनकी भेंट हुई। महर्षि वसिष्ठने विश्वामित्रसे हरिश्चन्द्रके दान-कर्म, सत्यवादिता तथा धैर्य आदिका उल्लेख किया। उन्होंने तो उनसे यहाँतक कह दिया कि 'हरिश्चन्द्रके समान न कोई हुआ है और न होगा ही।' इसी बातपर दोनोंमें बहस हो गयी। विश्वामित्रने कहा—'यदि बहुत शीघ्र ही इसे मैं असत्यप्रिय न सिद्ध कर दूँ तो मेरा सारा पुण्य क्षय हो जाय।' इस प्रकार शर्त लगाकर विश्वामित्र पृथ्वीपर वापिस आये। इसी बीच हरिश्चन्द्र एक बार शिकार खेलने वनमें गये। वहाँ उन्होंने रोती हुई किसी स्त्रीको देखा। उन्होंने स्त्रीको अभय दे विश्वामित्रके तपमें विघ्न किया। इस घटनासे विश्वामित्र उसपर और भी अधिक रुष्ट हो गये।

"एक बार विश्वामित्रने एक दानवको हरिश्चन्द्रके यहाँ भेजा। वह दानव शूकर-रूपमें वहाँ गया और उसने राजा-का तमाम उपवन उजाड़ दिया। मालियोंकी पुकारपर राजाने उसका पीछा किया। वह राजाको घने वनमें ले जाकर अदृश्य हो गया। वहीं एक नदी-तटपर ब्राह्मण-रूपमें विश्वामित्रसे उसकी भेंट हुई। विश्वामित्रने गान्धर्वी मायासे एक लड़का और एक लड़की राजाको दिखा, उनके विवाहके लिये राजासे दानका संकल्प ले लिया। अनन्तर राजाके राज्यमें पहुँचनेपर विश्वामित्रने वरके दहेजके लिये राजासे समस्त राज्य ले लिया। उन्होंने राज्यके अतिरिक्त दक्षिणा भी माँगी। इस दक्षिणाको चुकानेके लिये राजा, रानी और पुत्र तीनोंको काशीमें बिकना पड़ा। स्वयं विश्वामित्रने ब्राह्मणका रूप धारणकर स्त्री और पुत्र दोनोंको खरीद लिया तथा धर्मने चाण्डालका रूप धारणकर हरिश्चन्द्र-को खरीदा। हरिश्चन्द्रको श्मशान-घाटपर काम दिया गया।

"एक दिन रोहित ब्राह्मणके लिये लकड़ी, समिधाएँ आदि उखाड़ रहा था कि विश्वामित्रकी प्रेरणासे उसे किसी विषधर सर्पने डँस लिया, जिससे वह वहीं मर गया। साथके लड़कोंने दासी शैव्याको यह समाचार बताया। शैव्या बड़ी दुखी हुई। वह पुत्रके समीप जाने लगी, लेकिन ब्राह्मणने उसे छुटकारा नहीं दिया। अनन्तर अर्द्धरात्रिमें वह रोहितके समीप जा सकी। शैव्याने पुत्रके समीप बड़ा विलाप किया। उसका रुदन सुन पड़ोसके व्यक्ति जाग गये। उन्होंने शैव्याको पिशाची जाना। नागरिकोंने उसे बहुत पीटा और पकड़कर उसे चाण्डालके पास पहुँचा दिया। उसने हरिश्चन्द्रको उसके वधकी आज्ञा दी। रानीने पुत्रके मृत्यु-संस्कारके बाद अपना वध करनेकी आज्ञा माँगी। इसी बीच रानी राजाका नाम लेकर विलाप करने लगी। तब हरिश्चन्द्रने पुत्र और पत्नीको पहचाना। मृत पुत्रको देख राजाको भी बड़ा दुःख हुआ। अनन्तर वे रोहितको चितापर लिटा स्वयं पत्नीसहित भस्म होनेको उद्यत हुए। इसी समय इन्द्रादि देवता प्रकट हो गये। उन्होंने रोहितको जिला दिया और पति-पत्नी दोनोंको स्वर्ग चलनेके लिये कहा। तब राजा बोले—'मैं चाण्डालका दास हूँ, अतः उसकी अनुमतिके बिना स्वर्ग नहीं जा सकता।' तभी धर्मने प्रकट हो अपना रहस्य खोला। अन्तमें राजाने अपना पुण्य अयोध्यावासियोंमें बाँटा और रोहितको राज्यपर अभिषिक्त कर वृद्ध नागरिकोंसहित सपत्नीक उन्होंने स्वर्गको प्रस्थान किया।"[1]

यह कथा मार्कण्डेय पुराण अध्याय ७–८ में भी दो-तीन घटनाओंको छोड़कर देवीभागवतके समान ही मिलती है। भिन्न स्थल इस प्रकार हैं—

१. यहाँ विश्वामित्र और वसिष्ठकी शर्तका कोई उल्लेख नहीं; केवल आर्त्त स्त्रियोंकी रक्षाके लिये हरिश्चन्द्रद्वारा विश्वामित्रके तपमें विघ्न डालनेका वर्णन है।

२. यहाँ शूकरद्वारा राजाके छलनेकी भी घटना नहीं मिलती।

३. यहाँ विश्वामित्रने किसी लड़का-लड़कीके दहेजके लिये नहीं, अपितु स्वयंके लिये राजासे दान लेकर उसे राज्यसे च्युत किया।

४. राजा मृत पुत्रके समीप विलाप करती हुई शैव्यासे कर लेनेके उद्देश्यसे ही उसके समीप गया और तभी उसने पुत्र और पत्नीको पहचाना। यहाँ हरिश्चन्द्रकी रोहित और शुनःशेपवाली घटनाका भी कोई उल्लेख नहीं। इस प्रकार मार्कण्डेय पुराणमें हरिश्चन्द्रकी केवल सत्-प्रवृत्तिका ही वर्णन मिलता है।

१. देवीभा० १८–२७ अध्याय।

आत्मोद्धारके सरल उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुत-से साधक भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि साधनोंको करना चाहते हैं; किंतु उनसे साधन भलीभाँति बन नहीं पाता। इसपर उन्हें गहराईसे विचार करना चाहिये कि साधन क्यों नहीं बन पाता। विचार करनेपर यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणमें राग-द्वेष, अहंता-ममता और कामना आदि अनेक दोष भरे हुए हैं जिनके कारण अन्तःकरण अपवित्र हो रहा है, इसीसे साधनमें बाधा हो रही है। अतः अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये निष्काम भावसे शौचाचार, सदाचार, जप, तप, सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहार आदिकी बहुत आवश्यकता है; क्योंकि ये आत्मकल्याणमें परम सहायक हैं।

आजकल लोग शौचाचार, सदाचार, सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहारकी अवहेलना करने लगे हैं। यह उनके लिये घोर पतनकारक है। खयाल करना चाहिये कि इनके पालनमें न तो अधिक पैसोंका खर्च है, न अधिक परिश्रम है, न अधिक समय ही लगता है और इनसे लाभ अत्यन्त महान् है। इसलिये मनुष्यको इनके पालनके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

(१) विधिपूर्वक मिट्टी और जलके द्वारा शौच-स्नानादिसे शरीरको पवित्र रखना तथा वस्त्र और स्थान आदिको स्वच्छ रखना चाहिये।

(२) नित्य प्रातःकाल बड़ोंके चरणोंमें निष्काम भावसे आदरपूर्वक नमस्कार करना चाहिये।

(३) नित्य निष्काम भावसे बलिवैश्वदेव करके ही भोजन करना चाहिये। बलिवैश्वदेवमें पञ्चमहायज्ञ आंशिक रूपसे आ जाते हैं। अग्निमें जो पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, वह (होम) 'दैवयज्ञ' है। पितरोंके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'पितृयज्ञ' है। मनुष्यादिके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'मनुष्ययज्ञ' है। ऋषियोंके वचन मानकर वेदमन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है, वह 'ऋषियज्ञ' है तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको अन्न दिया जाता है वह 'भूतयज्ञ' है। बलिवैश्वदेवका अर्थ ही है सारे विश्वको अन्न देकर फिर स्वयं भोजन करना। इससे बड़ा भारी लाभ है।

(४) अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासन और गायत्री-जप करना बहुत ही उत्तम है। इतना न बने तो कम-से-कम श्रीसूर्य भगवान्‌को अर्घ्य दिये बिना तो मनुष्यको भोजन ही नहीं करना चाहिये। भगवान् सूर्यको अर्घ्य शूद्र भी दे सकता है। सभीके लिये सूर्यार्घ्यका पौराणिक मन्त्र यह है—

एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥

(५) अपना खान-पान सब प्रकारसे शुद्ध और सात्त्विक रखना चाहिये। वर्तमान समयमें लोगोंका खान-पान भ्रष्ट हो जानेसे उनका पतन हो गया और हो रहा है। बहुत-से लोग होटलोंमें भोजन और मदिरा, मांस, अंडा आदि अपवित्र घृणित अखाद्य वस्तुओंको खाने लगे हैं। यह महान् पाप है। इससे अन्तःकरण दूषित होता है और अपवित्रताकी वृद्धि होकर आत्माका पतन हो जाता है। अतः इनका कतई त्याग कर देना चाहिये। अंडा, मांस, मदिराकी तो बात ही क्या, मनुष्यको लहसुन-प्याज भी नहीं खाना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। राजसी भोजनका वर्णन गीतामें यों बताया गया है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

(१७। ९)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।'

तामसी भोजनका लक्षण यह है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(१७। १०)

'जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

अतः इनका कतई त्याग कर देना चाहिये ।

(६) खेल-तमाशा देखना, जुआ खेलना, हँसी-मजाक करना, अश्लील कामोत्तेजक पुस्तकें पढ़ना और क्लब-थियेटर, बायस्कोप-सिनेमा आदिमें स्वयं जाना तथा निर्लज्ज हो अपनी स्त्रीको साथ ले जाना—ये महान् हानिकर हैं । इनसे मनुष्य-का पतन हो जाता है । अतः इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

(७) अन्यायपूर्वक धनोपार्जन करनेसे भी अन्तःकरण दूषित होता है, इसलिये झूठ, कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघात आदिको छोड़कर सच्चाईके साथ न्यायपूर्वक पैसा पैदा करना चाहिये ।

(८) आमदनीसे अधिक खर्च लगाना भी मनुष्यके पतनमें हेतु होता है । अधिक खर्च करनेवाला मनुष्य धनका दास हो जाता है और फिर वह झूठ-कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघातसे धन कमाने लगता है । किंतु जो खर्च कम लगाता है, सादगीसे रहता है, उसको धनका दास नहीं बनना पड़ता । जब वह धनको महत्त्व नहीं देता तब वह पाप क्यों करेगा ?

(९) वर्तमान समयमें लोगोंको अन्नके बिना महान् कष्ट हो रहा है । अन्नके भाव बहुत अधिक हो जानेके कारण लोगोंको अपना जीवन-निर्वाह करनेमें बड़ी कठिनाई हो गयी है । अतः इस समय लोगोंके हितके लिये तन, मन और धनसे अपनी शक्तिके अनुसार अन्नके द्वारा उनकी सेवा करना सबसे उत्तम धर्म है । श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई ।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

(१०) वैश्यका परोपकार-बुद्धिसे क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना कर्तव्य है । गीतामें भगवान्‌ने बताया है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
(१८ । ४४)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्र-का भी स्वाभाविक कर्म है ।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
(१८ । ४५)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है । अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।'

तुलाधार वैश्यका केवल न्यायपूर्वक सत्य व्यापारसे ही कल्याण हो गया था । (देखिये महाभारत शान्तिपर्व अ० २६१ से २६४)

अतः वर्तमान अन्न-संकटके समय यदि अनाज खरीदकर बिना मुनाफाके ही कर्तव्यबुद्धिसे सबमें भगवद्भाव करके लोगोंको कम-से-कम दाममें निष्कामभावसे अन्न दिया जाय तो वह बहुत ही श्रेष्ठ है ।

(११) संसारके पदार्थोंको, धन-सम्पत्तिको और विषय-भोगोंको क्षणभंगुर, नाशवान् और दुःखरूप मानकर मनको उनसे हटाना चाहिये । उन्हींमें रचे-पचे नहीं रहना चाहिये । गीतामें भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

इसलिये वैराग्यपूर्वक संसारके ऐश-आराम और विषय-भोगोंका त्याग करके सत्य व्यवहार, सत्यभाषण, दूसरोंकी सेवा और ब्रह्मचर्यका पालन आदि सदाचारका निष्कामभावसे सेवन करना चाहिये । इससे अन्तःकरण बहुत शीघ्र शुद्ध होता है ।

(१२) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि दुर्गुण और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, अभक्ष्यभक्षण आदि दुराचार

अन्तःकरणको अधिकाधिक अपवित्र और दूषित बनानेवाले हैं। अतः इन सबका तो कतई त्याग कर देना चाहिये।

(१३) दुर्गुण-दुराचारकी अपेक्षा भी दूसरोंकी निन्दा करना-सुनना, दूसरोंके दोषोंको देखना और मनसे उन दोषोंका चिन्तन करना महान् हानिकारक है। इससे पाँच दोष होते हैं—

(क) दूसरोंके दोषोंको यदि कोई कानसे सुने, वाणीसे कहे, नेत्रोंसे देखे और मनसे मनन करे तो उस पापरूपी मलसे ये कान, वाणी, नेत्र और मन—सभी दूषित हो जाते हैं और उन दोषोंके संस्कार चित्तपर अङ्कित हो जाते हैं, जो भविष्यमें उससे भी वैसे ही पाप करानेमें सहायक हो जाते हैं।

(ख) दूसरोंकी निन्दा करने-सुननेसे उनकी आत्माको दुःख पहुँचता है, उसका पाप लगता है।

(ग) दूसरेका दोष देखनेसे उसके प्रति घृणाबुद्धि हो जाती है, यह भी पाप है जो अन्तःकरणको विशेष दूषित करनेवाला है।

(घ) दूसरेके दोष देखनेसे अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है, यह भी महान् पतनकारक है।

(ङ) पापीके पापकी चर्चा करनेसे उस पापीके पापका अंश उस चर्चा करनेवाले व्यक्तिको भोगना पड़ता है।

अतः आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको इन सबसे बहुत दूर रहना चाहिये।

उपर्युक्त सभी साधन निष्काम भावसे करनेपर मनुष्यका परम कल्याण करनेवाले हैं और यदि भगवदर्पण या भगवदर्थ-बुद्धिसे किये जायँ तब तो कहना ही क्या है। फिर तो बहुत ही शीघ्र कल्याण हो जाता है।

अर्पणके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे बताया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार भगवदर्थ कर्मके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त योगके अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार भगवदर्पण या भगवदर्थ-बुद्धिसे साधन करना चाहिये।

संसारमें मुख्यरूपसे दो ही बातें सार हैं—(१) अपने-पर किसी घटना, परिस्थिति आदिका प्राप्त होना, (२) स्वयं कोई भी कर्म करना। इनमेंसे(१) जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि आकर प्राप्त हो, उसे कर्मयोगके अनुसार अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल-रूप प्रारब्धका भोग मानकर हर्षके साथ निष्कामभावसे स्वीकार करे। ज्ञानयोगके अनुसार उसे स्वप्नवत् मिथ्या मानकर निर्विकार रहे और भक्तियोगके अनुसार उसे भगवान्-का विधान या भगवान्की लीला या भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर परम प्रसन्न रहे। तथा (२) जो नया कर्म करना है, उसे सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग करके शास्त्र-विधिके अनुसार निष्कामभावसे करे—यह कर्मयोगका साधन है और सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए ही, सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर उन शास्त्र-विहित कर्मोंको करे— यह ज्ञानयोगका साधन है। एवं सब कुछ भगवान्का समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्के शरण होकर उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार उनकी सेवाके रूपमें समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करे—यह भक्तियोगका साधन है।

मनुष्य कर्मफलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है, किंतु कर्म करनेमें परतन्त्र होते हुए स्वतन्त्र भी है। इसलिये किये जानेवाले कर्मोंको बहुत सावधानीके साथ करना चाहिये। भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

निष्कर्ष यह कि जो कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें हर समय परम प्रसन्न रहे और किये जानेवाले कर्तव्यकर्मको बहुत सावधानीसे न्यायपूर्वक निष्काम भावसे करे तो शीघ्रातिशीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है; किंतु जो अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मका त्याग करके मनमाना आचरण करता है, उसे कहीं भी सुख नहीं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही।'

इसलिये मनुष्यको सावधान होकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मका निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये।

ऊपर जो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि बहुत-से उपाय बताये गये हैं, उन सभीको गीतादि शास्त्रोंमें सरल, सुगम और सर्वोत्तम बताया गया है तथापि वर्तमान कलियुगमें भक्तियोगकी बहुत प्रशंसा की गयी है और उसे अत्यन्त सुगम बताया गया है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपुराण ६। २। १५—१७)

'हे द्विजगण! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रात साधन करनेसे प्राप्त कर लेता है। इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है। जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है।'

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

(विष्णुपुराण ६। २। ३९)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणका संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य संसारबन्धनसे मुक्त हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

इसीसे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(१२। ३। ५१)

'परीक्षित्! यह कलियुग दोषोंका खजाना है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही कि कलियुगमें भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करने मात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें कलियुगके समय भगवान्की भक्तिकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको कटिबद्ध हो तत्परतासे साधन करना चाहिये। समय बीता जा रहा है। मनुष्यको शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये। नहीं तो, समय शनैः-शनैः बीत जायगा और मृत्यु अचानक आ प्राप्त होगी तो फिर पहलेके अभ्यासके बिना उस समय कुछ भी साधन

नहीं बन सकेगा और उस समय पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ न होगा। इसलिये हजार काम छोड़कर उस कामको पहले करना चाहिये जिसके लिये यह मनुष्य-शरीर मिला है। यह मनुष्यशरीर आत्माके उद्धारके लिये ही मिला है। इसको जो मनुष्य विषय-भोगोंमें बिता देगा उसे घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इसलिये मनुष्यशरीर पाकर विषयभोगोंमें मन न लगाकर भगवान्‌में ही मन लगाना चाहिये।

सबसे बढ़कर सार बात यह है। इसमें न पैसा खर्च होता है, न परिश्रम है और न समय ही लगता है। हरेक मनुष्य इसे कर सकता है एवं यह निश्चय ही कल्याण करनेवाली है। वह बात है—हर समय भगवान्‌को स्मरण रखना। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

हमारा लक्ष्य और साधन

(लेखक—ज्योतिर्विद् श्रीविश्वनाथजी मेहरोत्रा)

मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य है श्रीभगवान्‌की प्राप्ति। इसीको मुक्ति कहते हैं। आवागमन फिर नहीं होता। श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तानुसार वास्तवमें आवागमन एवं बद्धावस्था मनका भ्रम ही है। सदा सर्वत्र सच्चिदानन्द ही है, अन्य कुछ भी नहीं।

श्रीपरमात्मा जीवमात्रके निरन्तर परम हितैषी हैं। जब जीव उन्हें भूला रहता है तो सुख-दुःखमें डूबता-उतराता है। जब जीव उन्हें स्मरण करता है तो फिर संसारके सुख-दुःखको सुख-दुःखकर मानता ही नहीं। अगली सीढ़ी ऐसी आती है, जब वह भगवत्स्मरणको ही परम सुख मानता है और भगवद्विस्मरणको दारुण दुःख—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'। ऐसा भगवत्स्मरण होने लगता है कि फिर उन्हें विस्मृत करनेमें अत्यन्त कष्टका अनुभव करता है। ऐसा जीव इस संसारमें रहता हुआ भी इससे निर्लिप्त रहता है। उसका योगक्षेम श्रीभगवान्‌की परम कृपामयी शक्ति स्वयमेव वहन करती है।

भगवत्स्मरण कर सकना सरल नहीं है। भगवत्स्मरण कर सकनेवाले जीवकी इन्द्रियाँ ही पृथक् प्रकारकी हो जाती हैं। उसकी श्रवणेन्द्रिय भगवान्‌के गीत और नाम ही सुनती है, अन्य कुछ नहीं। उसकी आँखें सदा सर्वत्र श्रीभगवान्‌को रमते हुए देखती हैं। उसकी नासिकामें श्रीभगवान् ही प्राणरूपसे निरन्तर प्रवेश करते हैं और प्रत्येक प्रश्वास श्रीभगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम लेकर जाता है या वह निरन्तर भगवान्‌के दिव्य अङ्ग-सुगन्धका सेवन करता रहता है। उसकी जिह्वा श्रीकृष्णनामामृतका स्वाद चखकर परम तृप्ति पा जाती है। श्रीकृष्णका प्रसाद ही उसका भोज्य है। जो कुछ स्पर्शनीय बाह्य जगत् है, उसमें उसे अपने परमप्रेमीके स्पर्शका आनन्दानुभव पग-पगपर पल-पलमें मिलता है। वह गद्गद रहता है। उसकी दोनों आँखोंके बीचमें तृतीय नेत्रके स्थानपर उसके प्रभु विराजमान रहते हैं और वह उनसे निरन्तर संयोगका अनुभव करता है।

वह अवस्था दिव्य है। वह भगवत्कृपासे ही प्राप्य है। जिसे इस प्रकारकी अवस्था एक क्षणके लिये भी प्राप्त हो जाय, वह उसे पकड़ थामनेके लिये विकल हो जाता है। श्रीनारदजीको उस प्रभुने अपनी मोहिनी मूर्तिका साक्षात्कार एक क्षणके लिये ही दिया था। उसी क्षणने श्रीनारदजीको सदा-सर्वदाके लिये उसे पानेको विवश कर दिया। वे आर्द्र होकर प्रार्थना करने लगे। परम कृपालु परमेश्वरने उन्हें

अपनी प्राप्तिके लिये साधन करनेका मार्ग समझाया । श्री-नारदजी स्वयं भगवान्‌को पाकर श्रीकृष्णमय हो गये ।

बहुत जन्मोंमें जन्मते-मरते जब जीव दूसरे जीवको हानि पहुँचानेसे बचता रहता है तो वह श्रीभगवान्‌का कृपाभाजन हो जाता है । उसे शान्ति मिलती है। बादमें वह दूसरे जीवों-की सेवा करता है, तब उसे और अधिक शान्ति मिलती है । फिर वह अन्तर्मुखी होता है । वहाँ उसे आत्मानन्दका अनुभव होता है । धीरे-धीरे श्रीभगवान् उसे अपनी ओर खींचकर अपना परम सेवक बना लेते हैं ।

मनुष्य धर्मका आडम्बर करता है, किंतु दूसरे जीवोंको हानि पहुँचाता है । तब परम कृपालु परमेश्वरकी महान् शक्ति उसे दण्ड देती है । वह श्रीभगवान्‌का वास्तविक स्मरण नहीं कर पाता और न उसके लिये लालायित ही होता है । वह जन्म-मरणके चक्करमें फँसा रहता है। झूठे सुखमें इतराता है । भगवान्‌की सृष्टिका अद्भुत राक्षसस्वरूप देवता—दुःख उसे उठाकर चट्टानसे टकरा देता है । वह कराह उठता है । तब उसे उस भगवान्‌की स्मृति आती है जिसे उसने पहले कभी नहीं याद किया । वह मन-ही-मन अपने दुःखके नाशके लिये उनकी शरण जाता है । भगवान्‌की परम कृपाशक्ति तब मुस्कराती है। वह उसे बताती है कि अपने दुष्कर्मोंका फल भोगे बिना मुक्ति नहीं है । अब वह घबराता है दुष्कर्मोंसे । किसी-को हानि पहुँचानेसे डरता है । उसका जीवन सुधरने लगता है । भगवान्‌की कृपाका उसे अनुभव होता है ।

क्रम-क्रमसे साधन करके ही मनुष्य दिव्य अवस्थाको पाता है । दिव्य अवस्था प्राप्त होनेमें समयका कोई निश्चित बन्धन नहीं है । जिसका हृदय जितना शुद्ध हो, वह उतनी त्वरित गतिसे उस अवस्थाको पाता है । श्रीभगवान्‌के स्मरण-में जो आनन्द मिलता है, उसे पानेका वह अधिकारी हो जाता है । इसमें शीघ्र सफलताके लिये विद्वत्ताकी नहीं, सरलताकी—भावकी आवश्यकता है ।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

ऐसा भी हो सकता है कि जीवनभर दुष्कर्म करनेवाला उन प्रभुको तत्काल पा जाय और वर्षों साधन करनेवाला कई जन्मोंके बाद उन्हें पा सके । जिसके चित्तमें अपने पापोंके प्रति ग्लानि हो, चित्त विगलित हुआ जा रहा हो, संसार विषवत् अनुभवमें आ रहा हो, जो इस सत्यका साक्षात्कार कर चुका हो कि जलते प्राणोंको शान्ति देनेवाला कोई एक घनश्याम ही है, एकमात्र वही है—ऐसा मानकर जो अनन्यभावसे उसके शरण हो रहा हो, जो उसके लिये तड़पने लगा हो, वह उसे तत्काल पा जायगा । यह 'तड़पन' ही उस श्रीकृष्णको पानेका सोपान है। जैसे जलमें डूबता हुआ व्यक्ति श्वास लेने-के लिये तड़पता है, वैसी ही तड़पन उस प्रभुके लिये जिस क्षण होती है, वह शीघ्र अपने वरदहस्त फैला देता है । जो लोग अपनी पूर्वावस्थामें अत्यन्त कामी होते हैं, उन्हें इस 'तड़प' का ज्ञान होता है । भगवान्‌की महामाया जब उन्हें एक आघात पहुँचा दे तो वे शीघ्र सच्चे प्रेमीको पानेके लिये विकल हो जाते हैं और तब उनकी पूर्व-अभ्यस्त 'तड़प' उन्हें त्वरित सिद्धि देती है । वे भगवान्‌को अतिशीघ्र वरण करते हैं । एक व्यक्ति अत्यन्त परिश्रमसे एक-एक पैसा कमा-कर स्वबुद्धिके उपयोगसे उसे लाखों-करोड़ोंमें बढ़ाता है । उसकी सारी सम्पत्ति यदि अकस्मात् उससे छिन जाय तो उसे जैसी तड़प होती है, वैसी ही तड़प, जिस क्षण सारे खजानोंके मूल्यसे भी अनन्तगुण मूल्यवान् श्रीप्रभुके पदनख-मणिकी प्राप्तिके निमित्त उत्पन्न हो जाय, वह तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप सिद्धिका लाभ करता है ।

जो जिस भाव और रूपको इष्ट बनाकर उस प्रभुको भजता है, प्रभु उसीके अनुरूप दर्शन देकर उसे कृतकृत्य करते हैं । वह जीव उस अद्भुत विलासीकी अनन्त लीलाओं-में अपने भावके अनुरूप ही अपना स्थान ग्रहण करता है । ऐसे समय एक जीव स्वयंको प्रभुवत् ही मानने लगता है । प्रभु उसकी इस इच्छाको भी पूर्ण कर देते हैं । वे सब कुछ करनेमें अकेले ही समर्थ हैं। वे जीवके जीवत्वका भाव न रहनेपर उसे अपने अंदर ही खींच लेते हैं ।

शिव, गणेश, सूर्य, विष्णु, सरस्वती, श्रीराधा, गोपी, भक्त, गुरु, काली आदि जितने भी स्वरूप हैं, सब उस परमात्माके ही हैं । अलख निरञ्जन, निर्गुण निराकार, अल्लाह रहमान, गॉड आदि जितने भी भाव हैं, सब उसीके निमित्त-से हैं । जैन, बुद्ध, सनातन, वैदिक, तान्त्रिक, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी, संसारके अन्य हजारों, जितने भी मजहब हैं, सब उसीकी यशोगाथा गा-गाकर उसे कृपालु बनाना चाहते हैं । वह तो स्वभावतः ही परमकृपालु और जीवमात्रका अत्यन्त हितैषी है—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।'

'वह हमारा अहैतुकी कृपालु परम सुहृद् है और सभी-का परम सुहृद् है' यह भाव जगाना ही प्रत्येक धर्मका कार्य है। उसकी अहैतुकी सुहृदताका जब जीवको विश्वास हो जाता है, तब वह सुखी हो जाता है।

मानवजीवन अन्य समस्त चौरासी लक्ष योनियोंमें प्रमुख माना जाता है। हम मानव देखते हैं कि हमारा भी जीवन पूर्ण सुखी नहीं है। हम अनुभव करते हैं कि इस जीवनको पूर्ण सुखी बनाना हमारा कर्तव्य है। दिन-रातमें, श्रम एवं आराममें, भोग और त्यागमें, विविध मार्गोंमें चलकर हम अनुभव करते हैं और कभी-कभी दूसरोंसे अपनी कहानी भी सुनाते हैं। संसार सर्वतोमुखी प्रगतिके मार्गपर बढ़ चला है। प्रगति वे ही कर सके हैं जो एकलक्ष्य होकर बढ़े हैं। जो समस्त इच्छाओंकी पूर्तिका साधन है, जो समस्त इच्छाओंकी पूर्तिसे बढ़कर भी कोई विशिष्ट सुख देनेमें समर्थ है, जो एक-मात्र प्रेम करने योग्य है, जो अनन्त सौन्दर्य एवं अनन्त ऐश्वर्यका स्वामी है, उसीको—उसीके दिव्य स्वरूपको जीवनका लक्ष्य जानकर जो 'एकलक्ष्य' हो चुके हैं, वे ही धन्य हैं। उन्हींका सङ्ग कर, उन्हींके जीवनका अध्ययन कर, उनकी कहानी सुनकर, उनके अनुभवोंसे लाभ उठाकर हमें भी स्वतःको उसी लक्ष्यपर स्थिर कर देना चाहिये। प्रेम ही हमारा साधन हो और प्रेम ही उस साधनकी सिद्धि हो।

'साधन सिद्धि रामपद नेहू'

श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवने अपना अनुभव सुनाते हुए बताया है कि संसारमें जितने भी जीव हैं, वे सभी श्रीकृष्णको पानेके अधिकारी हैं। पर उन सबका भगवान्‌को पानेका मार्ग एक ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। अपनी-अपनी योग्यता एवं अपने अन्तःस्थ भगवान्‌की प्रेरणाके अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति-को साधनमें जुट जाना चाहिये। साधन कौन-सा करें इसके लिये बहुत सोचने-विचारनेकी आवश्यकता नहीं है। जिस भी साधनमें हमारी स्वाभाविक रुचि सबसे अधिक हो, उसीको ग्रहण करना चाहिये। चाहे भगवान्‌के नामका जप करें, चाहे उनकी लीलाओंका गान करें, चाहे उनके रूपमाधुर्यका स्मरण करें, चाहे उन्हें वशीभूत करनेके लिये सात्त्विक-तान्त्रिक साधनोंका सहारा लें या चित्तकी वृत्तियोंको अन्तर्मुखी कर उनमें भगवान्‌के दर्शनके निमित्त तड़पन जाग्रत् करें, उनकी शरणमें हो जायँ, 'वे हमारे अपने हैं'—इसी भावको हृदयंगम कर जकड़े रहें, 'वे हमारे प्रियतम, सखा, स्वामी या सर्वस्व हैं'—यही मानें, 'वे सर्वव्यापी एवं सबके अन्तःस्थ हैं'—समझें, यम-नियमादि अष्टाङ्गयोगका साधन करें, नमाज़ पढ़ें, प्रार्थना करें, दर्शन करें, व्रत करें, तीर्थभ्रमण करें, दान दें या प्राणीमात्रकी सेवा करें—इनमेंसे कोई भी एक, अनेक अथवा इनसे पृथक् जिस किसी भी साधनके निमित्त अन्तःस्थ प्रभु प्रेरित करें, उसी साधनको अपनायें। साधन करते समय मनमें सात्त्विक भाव स्वतः जाग्रत् हो जाता है। जो भगवान्‌की ओर एक कदम बढ़ते हैं, भगवान् उन्हें पानेके निमित्त दस कदम आगे बढ़ते हैं। साधन करते-करते विश्वासकी उत्पत्ति स्वयमेव हो जाती है। साधकके जीवनमें भला या बुरा जो कुछ भी होता है, वह उसके अन्तःस्थ प्रभु-की देन होनेसे वास्तवमें केवल भला ही होता है और उससे साधनमें लगन बढ़ती ही जाती है। दुर्दैवसे साधन छूट भी जाय तो आत्मा स्वयंको कोंचती रहती है और एक दिन साधन पुनः प्रारम्भ हो जाता है। जब साधक अपनेमें दूसरे प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठताका बोध करता है तो शीघ्र ही उसके पतनकी सम्भावना होती है।—इस प्रेमके घरमें प्रवेश करनेवालेको समस्त अभिमान छोड़ देना पड़ता है।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

—छुरेकी धारके समान तीखी धारवाला यह मार्ग है। इसपर सब कुछ त्याग कर ही मनुष्य बढ़ सकता है। त्यागकी वह शक्ति तो महामायाके प्रसन्न होनेपर ही आती है। अपने स्वामीके प्रति सच्चा प्रेम देखकर ही वह प्रसन्न होती है।

साधन सच्चा है, ठीक मार्गपर हम बढ़ रहे हैं—इसे पहचाननेकी कसौटी सिर्फ एक है। वह है—

'साधन सिद्धि रामपद नेहू।'

—यदि भगवद्विरोधी विचारों, कर्मोंसे चित्त हट रहा है, भगवान्‌के चरणकमलोंमें प्रीति हो रही है, भगवान्‌के सांनिध्यके लिये उत्कण्ठा तीव्रतर है तो हमारा साधन सफल है। यदि हम इस कसौटीपर खरे नहीं उतरते हों तो हमें अपने-आपको सँवारना चाहिये और भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे अपने पादपद्मोंमें निर्मल भक्तिका वर दें।

विद्वान् संत-महात्माओंको दान

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

देशमें अधिकतर लोगोंको अन्न-वस्त्रके अभावसे दुखी रहनेपर भी साधारणतया लोगोंमें धार्मिक प्रवृत्तिका क्रम चलता ही रहता है और अच्छे धार्मिक कृत्योंमें लोग बराबर दान देते रहते हैं। उन प्रतिग्रहीताओंमें अधिकतर विद्वान् संत-विरागी महात्मा ही रहते हैं। गतवर्ष अष्टग्रहीकी शान्तिके लिये सम्पूर्ण देशमें यज्ञानुष्ठान तथा संकीर्तनकी जो लहर चली थी, वह लोगोंकी स्मृतिमें अभी नूतन उदाहरण है। बहुतेरे राजनीतिक नेताओंने उसमें अपार धनराशिके व्ययकी भूरि-भूरि निन्दा की थी तथापि अनन्तकालसे प्रचलित वह प्रथा रुकनेवाली नहीं है और कदाचित् कभी रुके भी नहीं, जबतक आर्यलोग और सनातनधर्म इस धरापर विद्यमान रहेंगे।

समय विकराल बीत रहा है। बढ़ते हुए शासन-व्ययकी पूर्तिके लिये आये दिन करोंकी भरमार होती जा रही है, भोज्य एवं भोग्य पदार्थोंकी मूल्य-वृद्धिसे लोग कराह रहे हैं। ऐसी हालतमें भी देशमें जहाँ-तहाँ धार्मिक कथा-प्रवचन, कीर्तन, रामार्चा आदि चलता ही रहता है। योग्य विद्वान्, गृहस्थ, विरागी एवं संन्यासी कथा-वाचक और व्याख्याता रहा करते हैं। गृहस्थलोग ऐसे विद्वानोंके मुखसे धर्मचर्चा सुनकर अपना परलोक सुधारनेकी आशासे अपनी गाढ़ी कमाईमेंसे थोड़ा-बहुत द्रव्य इन विद्वानोंके चरणोंपर सहर्ष अर्पित करते हैं। यहाँतक सब कुछ ठीक है, परंतु दिनानुदिन कुछ ऐसे कथावाचकों और व्याख्यानदाताओंकी संख्या बढ़ रही है जो कचहरीके वकीलों तथा वैद्य-डाक्टरोंकी फीसकी तरह बलात् श्रोताओंसे मनमाना रुपया वसूलते हैं। वे सनातन सामाजिक परिपाटीको धूलिमें मिला रहे हैं। उनके इस अनुचित बर्तावसे विचारवान् गृहस्थोंको इस परिपाटीसे घृणा बढ़ रही है और आशंका है कि कालक्रमसे इस पवित्र परिपाटीको भारी धक्का लगेगा। तीर्थ-स्थानोंमें पण्डे-पुजारी तो प्रायः मनमाना करते ही हैं। ग्रामोंमें आमन्त्रित होकर ये कथा-वाचक लोग अनुचितरूपसे जो द्रव्य बटोरनेका क्रम चला रहे हैं, यह शोचनीय है। धर्मोपदेशमें क्रय-विक्रयकी परिपाटी इस देशके लिये नयी बात है। विद्या-प्रचारमें भृत्य-अध्यापनकी परिपाटी विदेशी शासनकालसे स्कूल-कॉलेजोंमें शताधिक वर्षोंसे चल ही रही है और उस शिक्षाका जैसा कुपरिणाम व्यक्ति और समाजपर पड़ा है और पड़ रहा है, यह किसीसे छिपा नहीं है, सारी शिक्षा-पद्धति अर्थोपार्जनके योग्यता-सम्पादनके आधारपर अवलम्बित कर दी गयी है, जिससे देशमें शिक्षित समाजमें बढ़ती हुई अर्थ-लिप्सा अथच भोग-लिप्साका प्रवाह चल रहा है और भ्रष्टाचारकी तरङ्गमें समाज बहता हुआ नजर आ रहा है। लाख प्रयत्न करनेपर भी इसमें कोई कमी नहीं हो रही है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि जबतक शिक्षाको अर्थकरी नहीं मानकर मानवोत्पादक नहीं बनाया जायगा तबतक देशमें शान्ति नहीं विराजेगी और पढ़े-लिखे मानव-नामधारी लोगोंकी संख्या बढ़ती ही जायगी। संत-महात्माओंका जीवन इसी अर्थमें समाजके लिये मार्गदर्शक है कि वे शुद्ध और सादा परोपकारपरक जीवन बितानेवाले समझे जाते हैं। पेटके लिये, विलासिताके लिये और अनेकानेक सांसारिक झंझटोंके लिये तथा प्रमादके लिये पाप करनेवाले असंख्य लोग गृहस्थाश्रममें तो हैं ही, फिर ये वेषधारी संत-महात्मा गृहस्थोंको क्यों भटकाने चले हैं? अयोध्या, काशी, प्रयाग, मथुरा, ऋषिकेश आदि-आदि तीर्थ-स्थानोंमें करोड़ोंकी सम्पत्ति हिंदुओंने पूर्वसे ही लगा रक्खी है और प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये ये वहाँ जा-जाकर चढ़ावेके रूपमें अर्पित कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें भी उन स्थानोंसे ये महात्मा लोग निकल-निकलकर दूर देहातोंमें अपने ज्ञानका प्रकाश प्रसारित कर धन बटोरते हैं। वहाँके असंख्य दीक्षा-गुरु लोग प्रतिवर्ष अपने शिष्योंसे गुरु-दक्षिणाके रूपमें बड़ी धनराशि ले जाया करते हैं। इनमें अधिकतर लोग तान्त्रिक मन्त्रोंके विषयमें कोरे होते हैं और छलना ही उनकी करामात है। इस मूर्खता और स्वार्थ-परताको रोकना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान समयमें हिंदुओंमें धार्मिक भावनाके ह्रासके साथ-साथ अन्धविश्वास भी घटता जा रहा है और समाजको इस स्थितिसे लाभ उठाना चाहिये।

हिंदूधर्मका सदासे यह एक अङ्ग रहा है कि विद्वान् लोग समाजमें निर्लोभ होकर ज्ञानका प्रचार करते आये हैं। पिता अपने पुत्रोंसे प्रतिज्ञा कराते थे कि वे इसको पितृ-ऋण समझकर धार्मिक प्रवचन करें। स्व० पं० मदनमोहन मालवीयके पूज्य पिता कथा-वाचक थे और उन्होंने मालवीयजीसे इस क्रमको बनाये रखनेकी प्रतिज्ञा करायी थी। यद्यपि मालवीयजी व्यासगद्दीपर बैठकर समयाभावसे ऐसा नहीं कर सके, पर अपने अगणित उपदेशपरक व्याख्यानोंसे उन्होंने इस

ऋणको सूदसहित चुकाया, इसमें संदेह नहीं। प्राचीन कालमें इस देशमें साक्षरता बहुत कम थी, सीमित थी और गाँवोंमें योग्य विद्वानोंके द्वारा कथासे ही सदाचार तथा धर्मका प्रचार होता था। श्रद्धालु गृहस्थ सपरिवार चतुर्दिक् बैठकर धर्मोपदेश तथा महाभारत आदि पुराणोंमें वर्णित महापुरुषोंके जीवन-चरितका श्रवण करते थे। रामायणमें वर्णित भगवान् रामकी मातृ-पितृभक्ति तथा भ्रातृस्नेहको हृदयंगम करते थे, हनुमान्‌की स्वामिभक्ति, ब्रह्मचर्य और वीरताकी कथाको सुनकर उछल पड़ते थे, उधर महाभारतके युधिष्ठिरकी सत्य-निष्ठा, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि पाण्डवोंकी मातृभक्ति, वीरता तथा भ्रातृस्नेहसे गद्गद हो जाते थे। पिताके सुखके लिये संसारके इतिहासमें अतुलनीय त्याग करनेवाले भीष्म-पितामहकी भीषण प्रतिज्ञाका श्रवण करके किस आर्य संतानका सिर ऊँचा नहीं होता था। उधर दुर्योधनकी राज्य-लिप्सा तथा उसके द्वारा भरी सभामें अपने कुलकी वधू द्रौपदीको नग्न करनेके घृणित प्रयासकी कथा सुनकर कथा-स्थलमें छी-छीका शोर मच जाता था। यह था महत्त्व प्राचीन कालमें कथा-प्रवचनका। प्रवक्ताको लोग श्रद्धासे स्वयं योग्य द्रव्य देकर तृप्त करते थे, आजकी तरह मोल-तोल या रोजगारी वृत्तिका अभाव था। गृह-त्यागी और विरागी लोगोंकी बात छोड़िये, सनातनधर्मके चार आश्रमोंमेंसे पिछले दो आश्रमों—वानप्रस्थ और संन्यासका यही उद्देश्य था कि उस लंबे समयको लोग घरसे अलग रहकर केवल आत्मसाधन तथा सहज परोपकारमें व्यतीत करते थे। अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार लोग शारीरिक तथा मानसिक परिश्रमसे समाजकी सेवा करते थे। कथा-प्रवचन भी उनमेंसे एक महत्त्वपूर्ण काम था। उस क्रमको पुनरुज्जीवित करनेकी आज बड़ी आवश्यकता है। हम चाहते हैं कि कथा-वक्ताको यदि लोग दान दें तो उस द्रव्यका सदुपयोग दाताओंकी रुचिके अनुकूल उन-उन स्थानोंकी जनताकी सेवामें किया जाय। सरकारके द्वारा जनहितका जो-जो आवश्यक कार्य नहीं किया जा सके, उन-उन कामोंकी सिद्धिमें इस प्रकारसे उपार्जित द्रव्य लगाया जाय। इससे तथाकथित महात्माओंके चक्करसे सीधे-सादे गृहस्थोंका पिण्ड छूट जायगा और हर गाँवमें ग्रामोपकारिणी समितियोंके द्वारा पिछड़े हुए भाइयोंका महान् उपकार होगा। सरकारी चार पैसेसे जितना काम होगा, उतना काम दो पैसेमें अपने भाइयोंके हाथसे होगा, सामूहिक सहयोगकी शिक्षाका महत्त्व जनताके बीचमें व्यापकरूपसे दीख पड़ेगा। सरकार जहाँ-तहाँ मोद-मण्डलियोंको आर्थिक सहायता दिया करती है। ग्रामीण जनोंके मनोरञ्जनके लिये इस द्रव्यका भी बहुत अंशोंमें दुरुपयोग हो रहा है। उपदेश और मनोरञ्जनको अन्योन्याश्रित किया जाना चाहिये।

आज बहुत-से संस्कृतके प्रौढ़ विद्वान् जीविकाके बिना निरवलम्ब जीवन बिता रहे हैं और बहुत धनराशि व्यय करनेपर भी संस्कृत-पाठशालाओंके द्वारा संस्कृत-शिक्षाका प्रचार नहीं हो रहा है। क्या ही अच्छा हो कि इन विद्वानोंको निश्चित मासिक वृत्ति देकर उनके द्वारा जनतामें कथा-प्रवचन और व्याख्यानोंके द्वारा सदाचार तथा धर्मोपदेशका प्रचार कराया जाय। इससे ठगीपर उतरे हुए लोगोंकी—नकली साधु-महात्माओंकी पूछमें कमी होगी। जीवनके किसी भी विभागमें योग्य व्यक्तियोंकी बड़ी कमी है और योग्य व्यक्तियोंकी योग्यता कभी छिपी नहीं रह सकती। स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बादसे देशोन्नतिके जितने कार्य आरम्भ किये गये हैं, उनमें एक मौलिक त्रुटि चली आ रही है। योग्य व्यक्तिको उचित स्थान नहीं मिल रहा है। मताधिकारके इस युगमें भेड़ियाधसानकी भाँति लोग बहुमतकी धारामें बहे जा रहे हैं, जिसमें योग्यताका कोई स्थान नहीं है।

श्रीगुलजारीलाल नन्दाका भ्रष्टाचारके उन्मूलनके सम्बन्धमें जो अभियान आरम्भ हुआ है, उसमें भी यही त्रुटि काम कर रही है। इस अभियानमें भी अधिकतर भ्रष्टाचारी लोग ही सम्मिलित हो रहे हैं। जबतक शासनका व्यय घटाकर लोगोंमें धर्ममय सादा जीवन बितानेका वातावरण देशमें नहीं तैयार किया जायगा, जैसा कि गान्धीजीका मार्ग था, तबतक कोई सुधार होना नहीं है। वास्तविक भूखे लोग ही चोरी नहीं किया करते, अधिक सुखकी खोजमें ही अधिकतर लोग अधिक पाप-कर्म करते हैं। देहात्मवाद तथा भोग-लिप्साका यह विषम परिणाम अभी देशमें सर्वत्र व्याप्त है। इसका निराकरण करना है। भर्तृहरिका यह श्लोक सब लोगोंके लिये विचारणीय है—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥

आजके युगकी विशेषता—अर्थ एवं अधिकार

(लेखक—प्राध्यापक श्रीजे० पी० पाण्डेय एम्० एस-सी०, बी० एड्०, एल्-एल्० बी०, विशारद)

प्रत्येक युगकी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं, जिनसे वह सम्बोधित होता है, जाना जाता है। इस प्रचलित युगको कई लोग जहाँ अणु-युग कहते हैं, वहाँ कई अन्य इसे 'डालडा-युग' कहकर भी मखौल उड़ाते हैं। बहुत-से इसे राकेट-युग कहकर इस युगको विश्वके इतिहासमें सर्वश्रेष्ठ बतानेका दावा भी करते हैं। पर वस्तुतः भारतमें यह वर्तमान युग 'अर्थ और अधिकार'का मतवाला युग ही कहा जाना चाहिये; क्योंकि आजके इस युगमें जितनी दौड़ और होड़ अर्थ और अधिकारको लेकर चल पड़ी है, सम्भव है विश्वके इस भूभागके सदियोंसे चले आनेवाले इतिहासमें ऐसी कभी नहीं रही होगी। हाँ! त्रेता और सत्ययुगमें भी 'सत्ता'का अस्तित्व था, उसके लिये कशमकश थी, युद्ध भी होते थे; पर वे सब राजा-महाराजाके संकुचित दायरेमें ही सीमित थे—जनताको उससे इतना सरोकार न था। राजघरानेमें 'सत्ता'के लिये बड़े-बड़े चक्रव्यूह रचे जाते थे, सेनाको मजबूत और विशाल बनाकर राजमदमें मस्त राजा लोग जो कुछ भी करते थे, उसका प्रभाव सीधेरूपसे जनतापर कभी न गिरने देते थे और जनता भी अपने राजामें ईश्वरका आभास एवं अस्तित्व मानकर जो कोई भी उस राजसिंहासनको ग्रहण करता था, उसीकी अनुगामिनी बनकर अपनी देशभक्तिका परिचय देती थी। जब कभी कोई सैन्य-क्रान्ति हुई, या राजा पलटे, तब भी जनताके मध्य उसका सीधा कोई प्रभाव नहीं पड़ा। राजनीति राजघराने या उससे सम्बन्धित व्यक्तियोंतक ही सीमित थी—उसमें प्रथम तो छल-कपट, राग-द्वेष, झूठ-प्रपञ्च होते ही न थे; यदि होते भी तो उसी संकुचित दायरेमें होकर तुरंत ही इस ओर या उस ओर घटना घटनेके बाद वे लुप्त हो जाया करते थे। पर आजकी स्थिति और है। मानव-जीवनके प्रत्येक अङ्गपर आज लोकतन्त्र छाया हुआ है, राजतन्त्रमें तो यह कूट-कूटकर भरा है। इसमें तो आज जितना अधिक लोकतन्त्र है, उतना सम्भव है विश्वके किसी भी कालमें यहाँ न रहा होगा।

लोकतन्त्रका सिद्धान्त सिद्धान्ततः अपने-आपमें बुरा नहीं है—इसका वास्तविक अर्थ तो मानवजीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभीमें अधिक-से-अधिक लोगोंका सहयोग प्राप्तकर सबके हितके लिये कार्य करना तथा उनकी सुख-सुविधाओंके साधन जुटाना है। राजनीतिक क्षेत्रमें लोकतन्त्र राजकीय सत्ताका एक विशुद्ध विकेन्द्रीकरण है जहाँ राज्यके एक छोटे-से-छोटे ग्रामीण सदस्यकी राय और मतका उतना ही महत्त्व है जितना किसी महान् लक्ष्मीपतिके मतका; फिर भी वास्तविकता कुछ विचित्र ही दृष्टिगोचर होती है। ये जनताके सेवक जनताके नेतृत्वका भार सँभाले अपनेको 'नेता'के रूपमें ढालकर राज्यकी विधान-सभाओं या जिला-परिषदोंके प्रमुखोंके पदोंको सुशोभित करनेको इतने आतुर लगते हैं कि जिसे देखकर लगता है कि आजका युग 'अधिकार'के पीछे कितना बावला—मतवाला होकर येन-केन प्रकारेण 'अर्थ' अर्जन करनेके लिये लंबी दौड़ लगा रहा है; मानो जीवनमें 'अर्थ' और 'अधिकार' ही सब कुछ है। जो स्वार्थलोलुपता, ईर्ष्या, राग-द्वेष उस बीते मध्यकालमें राजा या उसके राजघरानेकी परिधिमें ही दृष्टिगोचर होते थे, आज वे घर-घरकी वस्तु बन गये हैं। यहाँतक कि अपने मताधिकारके प्रयोगके लिये न केवल भाई-भाईमें ही फूट है वरं बाप-बेटेमें, भाई-बहनमें—और तो और क्या, पति-पत्नीतकमें वह घुस आयी है। बड़ा आश्चर्य है—पतिको परमेश्वर समझनेवाली भारतकी जो नारी सदियोंसे गृहलक्ष्मीका पद सुशोभित किये रही है, उस नारीका हाल देखिये—आज यदि पति कांग्रेसी है तो उसकी पत्नी समाजवादी; क्योंकि उसे वहाँ 'अर्थ' और 'अधिकार' प्राप्त होता है। अपने पिताको सब कुछ समझने तथा उसकी सेवामें अपना तन-मन-धन निछावर कर देनेवाले श्रवणके इस देशमें आज पिता जनसंघका सदस्य है तो बेटा कम्युनिस्ट—एक जागीरदारी प्रथाका हामी है तो दूसरा 'सब कुछ समाजका है' में विश्वास रखनेवाला। इससे स्पष्ट है—आजका लोकतन्त्र जहाँ एक ओर सत्ताको विकेन्द्रित-कर प्रत्येक मनुष्यको, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उस राजयन्त्रका पुर्जा बनाता है जिससे उसे उसके फलस्वरूप 'अर्थ' और 'अधिकार' प्राप्त होते हैं, वहाँ दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और तज्जनित उच्छृङ्खलताको बढ़ावा

देकर भी पद-पदमें कम्युनिस्ट, कांग्रेसी तथा अन्यान्य दलोंकी बड़ी-बड़ी कगारें भी खड़ी करता है । आज टूटते हुए घरोंकी दयनीय पारिवारिक घटनाएँ इस स्थितिको बहुत स्पष्ट करती हैं ।

अब हम शासन-व्यवस्थाको आँकें और देखें कि आजके राजकीय अधिकारी अपने अधिकारोंपर अधिक गर्व करते हैं या अपने कर्तव्योंपर । यह तो एक सर्वमान्य राजनीतिक सिद्धान्त है कि जहाँ अधिकारोंकी प्राप्ति होती है, वहाँ कर्तव्य अपने आप उभर आते हैं । कर्तव्य एवं अधिकार एक दूसरेके पूरक हैं । पर आज स्थिति क्या है ? आज राज्यका छोटे-से-छोटा अधिकारी भी अपने अधिकारोंका स्वेच्छानुकूल निरङ्कुशतासे उपभोग करना चाहता है । उसे अपने कर्तव्योंका कोई भान नहीं है । राज्यके उच्च अधिकारियोंका तो कहना ही क्या—उनके श्रीमुखसे निकला हुआ एक-एक शब्द 'न्याय' बन जाता है, चाहे वह राज्यद्वारा प्रतिपादित उन्हीं नियमोंके विपरीत होता हो, जिनको स्वयं उसीने अपनेमें निहित राजकीय सत्ताके कारण बनाये हैं । बड़ा आश्चर्य और कभी-कभी तो बड़ी हैरानी तब होती है कि जब राज्यके बड़े-बड़े अधिकारी अपने अधिकारोंका खुलकर दुरुपयोग करते हैं । और यह निश्चित है—जहाँ इन अधिकारोंका इस प्रकार दुरुपयोग होने लगता है, वहाँ 'अर्थ'का जमा होना और उल्टे-सीधे रास्तोंसे आना भी आसान हो जाता है । आज जितनी कर्तव्य-विमुखता तथा 'अर्थ'के पीछे अंधी उन्मत्तता इन राज्यके अधिकांश बड़े-बड़े अधिकारियोंमें देखी जाती है, उतनी और किसीमें नहीं; राष्ट्र आज यदि कमजोर है तो इसी नैतिक पतनके कारण है, जिससे न केवल राज्य-प्रशासनमें भ्रष्टाचार फैलता है; अपितु जनताके जिम्मेदार लोग भी बिगड़ते हैं ।

सामाजिक व्यवस्थामें भी आज जितनी जातियों या वर्ण-व्यवस्था या इनके द्वारा उत्पन्न ऊँच-नीचकी नहीं बन आती, उतनी 'अधिकार' और 'अर्थ'की बन आती है । आज स्पष्ट तौरपर समाज दो बड़े-बड़े दलोंमें विभाजित हुआ-सा लगता है—इस 'अर्थ' और 'अधिकार'ने मानो मानव-जातिमें दो नयी जातियोंका निर्माण कर दिया है। यह तो स्पष्ट है कि जहाँ 'अधिकार और अर्थ' है, वहाँ मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा भी है । आज भी व्यक्तिविशेषकी योग्यता और उसकी मान-प्रतिष्ठा उसमें समापन्न 'अधिकार' और 'अर्थ' पर आधारित मानी जाती है । आज भी जीवनके भौतिक सुखोंके उपकरणोंका जमघट सही और उच्च जीवनके मापदण्ड बने हुए हैं । जबतक मानवमें पायी जानेवाली मानवता और भ्रातृत्व तथा समानताके सर्वश्रेष्ठ गुणोंको भौतिक ऐश्वर्योंकी चमक-दमकसे कईगुना ऊपर नहीं समझा जायगा, तबतक समाजमें 'अर्थ' और 'अधिकार' सब कुछ समझे जाते रहेंगे । आज इस नये युगमें जितनी भी नयी-नयी समस्याएँ समाजके सामने हल होनेको अपना मुँह फैलाये खड़ी हैं, वे सभी 'अर्थ' और 'अधिकार'के द्वारा जनित समाज-व्यवस्थाके कारण उत्पन्न हुई हैं । घरपर पारिवारिक जीवनमें भी इनका प्रवेश बड़ा गम्भीर रूप धारण किये हुए है—पिताको आज वही पुत्र अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारा लगता है, जो ऊँचा अधिकारी है या सबसे अधिक अर्थका उपार्जन करता है तथा वह एकमात्र पुत्र भी उसकी आँखोंसे गिर जाता है, जो अर्थ अर्जन करनेमें उतना दक्ष नहीं है । पति और पत्नीमें भी आये दिन इसीलिये कशमकश चलती रहती है कि वे भी एक दूसरेके प्रति अपने कर्तव्योंके प्रति उतने सजग न होकर आज अपने-अपने अधिकारोंका खुलकर बड़े जोर-शोरसे प्रदर्शन करते हैं तथा वे दोनों 'अर्थ'के पीछे ही अपना ऐसा सम्बन्ध जोड़ते और तोड़ते हैं । विवाह पहले धर्मपर आधारित था; पर आज यह 'अर्थ'के चहुँओर ताने-बानेकी तरह गुँथता चला जा रहा है—जितना अधिक अर्थ मिलता है, उतना ही अच्छा लड़का प्राप्त हो जाता है। यही नहीं, कहीं-कहीं तो विवाह—एकके बाद एक—केवल इसीलिये किये जाते हैं कि इनसे बराबर धनकी प्राप्ति होती रहे ।

बड़ी विडम्बना है इस युगकी कि आज ज्यों-ज्यों विज्ञान-प्रदत्त भौतिक सुख-सुविधाएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों मानव बेतहाशा 'अर्थ' और 'अधिकार'को प्राप्त करनेके लिये बौखलाया हुआ इधर-उधर और अधिक भटकता हुआ-सा लगता है । यह स्वयं पतन है और अधिक पतनका साधन है ।

भगवन्नामके चमत्कार

(लेखक—डा० श्रीगोकुलप्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)

जून १९६४ के कल्याणमें 'भगवन्नामका अमोघ परिणाम' शीर्षकसे प्रकाशित पू० वृन्दावनवासी बाबाका अनुभव पढ़कर मुझे भगवन्नामके अचूक प्रभावसे सम्बन्धित अपने अनुभवोंको प्रकाशित करानेकी प्रेरणा हुई। यह लेख उसीका परिणाम है।

भगवान् धन्वन्तरिका जो वचन पू० बाबाने उद्धृत किया है, उसे मैं 'अच्युत-मन्त्र' कहा करता हूँ। मैंने सर्वप्रथम इसे कहाँ पढ़ा था, यह तो स्मरण नहीं; किंतु उसमें 'नामोच्चारण' के स्थानपर 'नामस्मरण' पाठ था। पढ़ते ही भगवान्के इस कथनमें मेरी श्रद्धा दृढ़ हो गयी थी। मुझे इसके प्रभावका जो अनुभव हुआ, वह निम्नलिखित है—

मई १९६३ की बात है, अपनी एक पुस्तकके प्रूफ-रीडिंगके लिये मैं प्रयाग गया था। वहाँ जाते समय मेरे कनिष्ठ द्विवर्षीय पुत्र आनन्दको साधारण-सा ज्वर था। मुझे प्रयागमें चार-पाँच दिन ही हुए थे और उतना ही मुझे वहाँ और ठहरना भी था, कि एकाएक मुझे घरपर चिन्ताजनक स्थिति होनेका आभास मिला। 'आनन्दका ज्वर बिगड़ गया होगा' इस आशङ्काके प्रतीकाररूपमें बालककी मङ्गलकामनासे मैंने अवकाश-के समय अच्युत-मन्त्रका—

अच्युतानन्तगोविन्दनामस्मरणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

—भगवान् धन्वन्तरिके इस वचनका अनवरत उपांशु जप प्रारम्भ किया। पाँच दिन बाद जब घर लौटा, तो आनन्दको मृत्युके मुखमें पड़ा हुआ पाया। उसे १०४ टायफाइड ज्वरके साथ भयंकर कामला रोग भी था। *नेत्र, नख, मूत्र इत्यादि बिल्कुल पीले पड़ गये थे। वह अत्यन्त क्षीण हो गया था और आँखें बहुत भीतर धँस* गयी थीं। उस अवस्थामें भी वह मेरे लिये व्याकुल था। मुझे—

औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ।

—के अतिरिक्त और कोई उपाय उस समय नहीं सूझा। गङ्गाजल साथमें लाया ही था। वह जब-जब पानी माँगता, मैं गङ्गाजल पिलाता और उसे गोदमें या कंधेपर लिये निरन्तर मनमें अच्युतमन्त्रका जप करता रहता। भगवत्कृपासे दो-तीन दिनमें ही उसकी हालत सुधरने लगी और धीरे-धीरे वह बिल्कुल स्वस्थ हो गया।

इस अच्युतमन्त्रका श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निरन्तर स्मरण करनेसे न केवल शारीरिक अपितु मानस-रोग भी निस्संदेह नष्ट होते जाते हैं—काम-क्रोधादि षट् विकारों और राग-द्वेषादि पञ्च क्लेशोंकी निवृत्तिमें भी इस मन्त्रसे सहायता मिलती है—ऐसा मेरा अनुभव है।

श्रीविष्णुसहस्रनामके अन्तर्गत आनेवाली—

अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः ।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः ॥

—इस भगवन्नामावलीका श्रद्धा-विश्वासपूर्वक जप करके भी मैंने अनेक बार अपने परिवारके लोगोंको वेदना-शान्ति एवं आरोग्य-लाभका अनुभव कराया है। सन् १९५१ में मैं एक छोटे-से गाँवके मिडिल स्कूलमें अध्यापक था। वहाँ न कोई मातृसदन और शिशुमङ्गल-केन्द्र था, न घरपर मेरे अतिरिक्त और कोई सँभाल करनेयोग्य व्यक्ति था। एकाएक रात्रिको दो बजे मेरी पत्नीको प्रसववेदना प्रारम्भ हुई और मैं गाँवकी दाईको बुला लाया; किंतु आसन्नप्रसवाकी अत्यन्त दुर्बलता और गाँवकी साधारण दाईकी अनुभवहीनताके कारण प्रसवमें बहुत ही कष्ट और विलम्ब हो रहा था। उस *समय मैंने इसी 'अमृत-मन्त्र' का भक्ति-भावसे जप किया और थोड़े समय बाद ही अनायास पुत्र-प्रसव करके* प्रसूता सुखकी नींद सो गयी।

ॐ नमो नारायणाय ।

—इस अष्टाक्षर मन्त्रकी सर्वार्थसाधिका शक्तिका भी मैंने अनेक बार प्रत्यक्ष अनुभव किया है। प्राइवेट परीक्षार्थी होकर भी बी० ए० परीक्षामें प्रथम श्रेणीमें द्वितीय स्थान प्राप्त करनेसे लेकर पी-एच्० डी० होनेतक मैं भगवन्नामस्मरणका ही चमत्कार मानता हूँ। इतना अवश्य है कि चमत्कार देखनेके लिये मैंने कभी भगवन्नामका जप नहीं किया। सहज, स्वाभाविक श्रद्धा-विश्वास और अनुरागसे ही जप, स्मरण आदि होता रहा है और जो भी चमत्कार अनुभवमें आये हैं, वे भी भगवन्नामके प्रभावसे जीवनमें आनेवाली तदनुकूलता तथा पात्रताकी प्रतिष्ठा होनेपर ही आये हैं। दूसरे शब्दोंमें भगवन्नामसे होनेवाले चमत्कार 'बाजीगरीके करिश्मे' नहीं, जीवनमें अनुकूल परिवर्तन लानेकी अदम्य प्रेरणा एवं प्रभावसे सम्पन्न भागवत-शक्तिके स्वाभाविक लीलाविलास हैं।

मैं अपना आशय और अधिक स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। साधारण मनुष्यके मनमें कामना या सूक्ष्म-वासना होना स्वाभाविक है। किंतु वैसा होनेपर भी फलके चिन्तनको छोड़कर भगवन्नामस्मरणमें ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करनेका प्रयत्न किया जा सकता है और ऐसा करनेसे सकाम भावकी कृपणता मिटकर आशासे अधिक सुफल प्राप्त होनेकी सम्भावना बढ़ती है। जैसे-जैसे भगवन्नामस्मरण जीवनका बनता जाता है (जीवनमें स्वाभाविक रूपसे घुलने-मिलने लगता है,) वैसे-ही-वैसे उससे असंख्य चमत्कार जीवनमें प्रकट होने लगते हैं। उसे एक पृथक् ऊपरी साधन माननेवाले सकाम साधकको भगवन्नामकी उस अप्रमेय एवं अप्रतिहत शक्तिका अनुभव नहीं हो सकता, जिसे महर्षि वाल्मीकिने या गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने जीवनमें प्रत्यक्ष अनुभव किया था।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण धारण करनेसे सुख, शान्ति और समृद्धि

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

एक महात्मा राजाके एक मनोरम उद्यानमें आनन्दमुद्रामें बैठे वातावरण, प्रकृति तथा पुष्पोंका आनन्द ले रहे थे। राजकीय उद्यान बड़े व्ययसे सजाया गया था। हरित लतिकाएँ और नाना रंग-बिरंगे विहँसते पुष्प, मादक सुगंध, हरी-भरी घास, शीतल-मंद समीर तथा समीप ही प्रवाहित जलकी सुषमा महात्माजीको आनन्दविभोर कर रही थी। वे तन-मन विस्मृतकर बेसुध प्रकृतिकी रूपमाधुरीका पान कर रहे थे।

राजाको उनकी यह निश्चिन्तता अखरी। उनके उद्यानमें कोई साधारण व्यक्ति क्यों ऐसे आ बैठे ? वे कुछ क्रुद्ध होकर महात्माके समीप आये और बोले—

'जानते हो, यह किसका उद्यान है ?'

महात्मा वैसे ही निश्चिन्त बठे रहे। उनके मुखपर शान्ति और आनन्द अब भी पूर्ववत् खेल रहे थे। उन्होंने उत्तर दिया—

'यह उद्यान मेरा है। मैं ही इसका आनन्द ले रहा हूँ' यों कहकर वे और भी फैलकर बैठ गये और निश्चिन्त प्रकृतिको निहारते रहे।

राजा—'क्या तुम नहीं जानते हो कि यह राजकीय उद्यान है ! मैं राजा हूँ, इस प्रदेशका स्वामी। यह मेरा उद्यान है। इसपर मेरा अधिकार है। इसके पुष्प, बेल, पौधे, वृक्ष तथा अन्य सुन्दर वस्तुएँ सब मेरी हैं। मेरे आनन्दकी वृद्धिके लिये राज्यकी ओरसे इनपर असाधारण व्यय किया गया है। इसमें एक-एक वृक्ष बहुमूल्य है। दूर-दूरसे उन्हें मँगवाया गया है। उन्हें लगाने और पुष्पित करनेमें राज्यका अमित व्यय हुआ है। इतने सबपर तुम-जैसा गेरुआ वस्त्र पहिने अधनंगे शरीर और दो पसलियोंवाला निर्धन, निराश्रित व्यक्ति कहता है कि यह उद्यान मेरा है। जो व्यक्ति अपने पेट और शरीरकी मामूली-सी आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं कर सकता, वह भला, क्या इस उद्यानका मालिक हो सकता है ?'

महात्मा शान्तभावसे राजाकी मदभरी गर्वोक्ति सुनते रहे। फिर मधुर मुसकान बिखेरते हुए बोले—

'राजन् ! इस उद्यानकी हरी-भरी लतिकाओं, पुष्पों, वृक्षों तथा अन्य सामग्रीका जितना आनन्द मैं ले रहा हूँ, उतना आप अपनी तमाम राजसी सुविधाओंके बावजूद भी नहीं ले रहे हैं। इसपर इतना व्यय करने, अनेक नौकरोंद्वारा इसकी

देख-भाल, संरक्षण आदि करानेके बाद भी मेरे-जितना आनन्द न ले पाना इस बातका द्योतक है कि यह उद्यान वस्तुतः आपका नहीं है। यहाँ प्रकृतिका सुन्दर स्वरूप खुला पड़ा है। जिसकी इन्द्रियोंमें उसका सुख भोग करनेकी शक्ति है, जिसकी संवेदना प्रकृतिके रसपानके लिये सूक्ष्म है, जो तन्मयतापूर्वक अपना प्रकृतिसे तादात्म्य कर सकता है, वही उसका मालिक है। सुन्दरता और आनन्द हृदयके विषय हैं। केवल सहृदय व्यक्ति ही इनका रसास्वादन कर सकते हैं। अन्य व्यक्ति इन-पर चाहे कितना ही धन व्यय करें, इनके मालिक नहीं हो सकते। सुन्दर और आनन्ददायक वस्तुएँ वास्तवमें उन्हीं सहृदय संवेदनशील व्यक्तियोंकी सम्पत्ति हैं, जो उनसे सुख और आह्लाद प्राप्त करते हैं। मैं इस उद्यानके सौन्दर्यका रसपान कर रहा हूँ। अतः यह मेरा ही है।'

यह सुनकर राजा सोचमें पड़ गया। महात्माकी उक्तिमें गहरी सत्यता छिपी थी। यह सत्य था कि उसने उद्यानकी सजावट और संरक्षणमें अनगिनत धन व्यय किया था। वह पौधोंकी देख-भाल तथा संग्रहमें उदारतापूर्वक व्यय करता था। परंतु प्रकृतिकी उस चित्रशालाका आनन्द लेनेके लिये उसके पास उन्मुक्त हृदय नहीं था। वह उद्यानमें टहलते हुए भी राज्यकी नाना चिन्ताओंमें डूबा रहता था। उसका मन अनेक गुत्थियोंमें उलझा रहता था। प्रकृतिके उस सुन्दर वातावरण-में भी उसे राजनीतिकी उखाड़-पछाड़ अशान्त रखती थी। उद्यानमें टहलना उसके लिये वैसा ही था, जैसे दरबारमें बैठकर राज्यकी समस्याएँ सुलझाना। दरबारमें नाना व्यक्ति इसके समक्ष प्रस्तुत होते, बागमें ये सब उसके मानस-नेत्रोंसे दिखायी देते रहते। उस सुन्दर उद्यानका होना, न होना राजाके लिये बराबर था।

वास्तवमें उक्त दृष्टान्तमें आनन्दका एक महान् रहस्य निहित है। आनन्द और सुन्दरताकी अनुभूतियाँ हमारे हृदय-की वस्तुएँ हैं। एक गुलाबका पुष्प या रंगीन बादल, उगता हुआ बालरवि या संगीतकी मञ्जुल ध्वनि, मनोहर चित्र, जिसे हम सुन्दर समझते हैं, सम्भव है दूसरे व्यक्तिकी दृष्टिको उसमें कुछ भी सौन्दर्य प्रतीत न हो। उसे देखकर वह आनन्दकी उपलब्धि न कर सके। पर यदि आपके पास सौन्दर्यके पारखी नेत्र, मधुर ध्वनिका रस लेनेवाले कान, सहानुभूति और प्रेमसे सराबोर हृदय है तो निश्चय जानिये—दूसरोंकी वस्तुओंमें उनकी अपेक्षा आपको अधिक आनन्द प्राप्त होगा।

आनन्द और सौन्दर्य व्यक्तिगत भावनाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्तिकी संवेदना-शक्ति और आनन्द प्राप्त करनेकी सूक्ष्मता पृथक्-पृथक् है। कोई सुन्दर वस्तु समीप रखनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह व्यक्ति उससे उसी अनुपातमें आनन्द और प्रेरणा भी प्राप्त कर रहा है, जितना सहृदय कर सकता है।

इसके विपरीत एक संवेदनशील व्यक्ति केवल अपने दर्शनकी सूक्ष्मता, अनुभूतिकी गहराई और उदार दृष्टिकोणकी शक्तिसे दूसरोंकी अनेक वस्तुओंका आनन्द ले सकता है। जो व्यक्ति बाग लगाते हैं, आप उनके बागमें जाकर प्रकृतिका आनन्द ले सकते हैं। धनी-मानी सज्जनोंके मकानोंमें बने हुए चित्रोंकी कलाको परखकर आप कलाके भव्य प्रदेशमें प्रवेश कर सकते हैं। उनके घरमें बजनेवाले वाद्य-संगीतका आनन्द ले सकते हैं। दूसरोंकी पुस्तकें लेकर पढ़ सकते हैं और आनन्द लाभ कर सकते हैं। दूसरोंके हर्षमें हर्षित और दुःखमें सम्मिलित होकर अपनी आत्माकी परिधिका विस्तार कर सकते हैं। दूसरोंके बाल-बच्चे आपके बाल-बच्चे हैं। प्रत्येक व्यक्ति आपसे सम्बन्धित आपका मित्र एवं हितैषी है।

वास्तवमें आनन्द और सौन्दर्य वस्तुओंमें नहीं है, देखनेवालेके मनमें है। हमारे आनन्द और सौन्दर्यका माप-दण्ड हमारे मनकी ऊँचाई और चौड़ाईपर निर्भर है। जिसकी रुचि जितनी परिष्कृत है, हृदय जितना संवेदनशील और उदार है, वह उतना ही आनन्द और सौन्दर्य पान करता है। मनुष्यका दृष्टिकोण ही आनन्द देनेवाला है। संसार जिस भौतिक आनन्दके लिये अशान्त है, उसमें आनन्द लेश-मात्र भी नहीं है। वास्तविक आनन्द तो हमारे अंदर हमारी आत्मामें है।

यह सोचकर मत विक्षुब्ध हूजिये कि आप बड़े-बड़े उद्यानों, महलों अथवा विशाल अट्टालिकाओंके मालिक नहीं हैं। कल्पना कीजिये कि यदि ये वस्तुएँ आपकी होतीं भी, तो भी आप इन्हें कहीं उठाकर नहीं ले जा सकते थे। उनका मालिक होनेपर भी वे आपसे दूर-दूर ही रहतीं। केवल मनके अंदर एक स्वार्थमयी भावना यह रहती कि हम इन वस्तुओंके स्वामी हैं, दूसरोंका इनपर अधिकार नहीं है। आप कल्पनाद्वारा इन सब वस्तुओंको अपना मानकर उस स्वार्थमयी भावनासे मुक्त रह सकते हैं, जो इन वस्तुओंके मालिकोंके हृदयको संकुचित कर देती है।

प्रत्येक सांसारिक वस्तुको अपना ही मानकर आनन्द

लीजिये। परमेश्वरने सब कुछ आपके लिये ही, आपकी आत्माको सुख-शान्तिमें निमग्न करनेके लिये, आपकी सहायताके लिये विरचित किया है। हरे-भरे उद्यान, असीम उल्लाससे कलकल बहती हुई सरिताओंके तट, वृक्षोंकी शीतल छाया, पुष्प, स्निग्ध सुखद समीर, सार्वजनिक स्थान, मठ-मन्दिर—सब आपके हैं। आप जिस मन्दिरमें पूजन, चिन्तन, भजन इत्यादिके लिये प्रविष्ट होते हैं, उसे अपना ही मानकर चलिये। यदि आप ही उसके मालिक होते तो कैसे उसे स्वच्छ-सुन्दर रखते, कितनी देख-भाल करते, सावधानियाँ रखते—यह आप अब भी कर सकते हैं। आप सार्वजनिक धर्मशाला अथवा पुस्तकालयमें जाते हैं। प्रत्येक धर्मशालाके जिस कमरेमें आप ठहरते हैं, उसे अपना ही समझकर स्वच्छ रखिये। पुस्तकालयकी पुस्तक अथवा समाचार-पत्रको इस सावधानीसे पढ़िये मानो आपकी ही हों। जैसे आप अपनी वस्तुको सावधानीसे काममें लेते हैं, वैसा ही आत्म-भाव इनमें रखिये।

आप जितना ही इन सार्वजनिक वस्तुओंसे तादात्म्य करेंगे, उतना ही आनन्द प्राप्त होगा। आत्मभावका दायरा विस्तृत हो जानेसे अनेक जड वस्तुओं, पशु-पक्षियों, पुष्प-वृक्षों, उद्यानों, सार्वजनिक स्थानोंमें अपनत्वकी सरसता प्राप्त होगी। प्रत्येक वस्तु आपकीही है, परमेश्वरने आपके लिये ही निर्मित की है, आप उसका आनन्द प्राप्त कर सकते हैं—यह भाव मनमें रखिये। एक पग और आगे रखिये और सोचिये कि इस असत् जगत्के आनन्दोंसे भी ऊँचा, अधिक परिष्कृत पूर्ण एक और आनन्द-स्रोत है। वह अनन्त आनन्द और सुख-सागररूप आपकी आत्माका आनन्द है। उस आत्मिक जगत्में प्रवेश करनेसे परम शान्ति और सुखका अनुभव होता है। यह वह दिव्य आनन्द है, जहाँ मृत्युकी कुटिल छाया तक प्रविष्ट नहीं हो सकती। इस क्षेत्रके आनन्दोंमें रमण करनेसे हम मृत्यु-तकसे अभय हो जाते हैं और उस अनन्त जीवन और अनन्त शक्तिमय ईश्वरतत्त्वमें तन्मय हो जाते हैं। इस निर्विकार अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर हमें प्रतिकूल प्रसङ्ग और प्रतिकूल परिस्थितियाँ अशान्त नहीं कर सकतीं।

मत समझिये कि आप दीन-हीन हैं या अनेक वस्तुओंके स्वामी नहीं हैं। अभाव-जैसी कोई वस्तु आपकी चिन्ताका विषय नहीं बननी चाहिये। ईश्वरकी इस परम समृद्ध विपुला सृष्टिमें अभाव नहीं है। सर्वत्र आपके लिये समृद्धि है। अनेक प्रकारकी वस्तुएँ भविष्यमें आपके लिये भरी पड़ी हैं। आज नहीं तो कल, ये समृद्धियाँ आपको प्राप्त होनेवाली हैं। विपुलताकी अभावपर, पुण्यकी पापपर, सत्यकी झूठ-पर अवश्य विजय होगी। संकुचितता सृष्टिमें नहीं, स्वयं आपके मनमें है। उसके स्थानपर अपनी आत्माके विपुल विस्तारपर चिन्तन करना चाहिये।

आपकी आत्मामें अभाव-जैसी कोई वस्तु नहीं है। उसमें सर्वत्र विस्तार है। जो तत्त्व परमेश्वरसे आपको प्राप्त हुआ है, इस समग्र सृष्टिमें जिसका प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है, वह आपके शरीरमें रहनेवाला आत्मतत्त्व ही है। मनुष्यको अपने महान् तेज एवं सामर्थ्यका तबतक ज्ञान नहीं होता, जबतक उसे आत्मभावकी चेतना अथवा आत्मतत्त्वका बोध न हो जाय। जीवनमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण ग्रहण कर लेनेके उपरान्त मनुष्यके जीवनमें एक महान् परिवर्तन होता है। सर्वत्र उसे अपनी दिव्य आत्मा-के अंश दिखाबी देने लगते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, जड पदार्थोंतकमें वह अपनत्वकी झलक देखता है। संकुचितता छूट जाती है और उदारता उसके मनमें प्रविष्ट हो जाती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनानेसे उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अन्धकारसे दिव्य प्रकाशमें आ गया हो, अथवा स्वप्नावस्थासे जाग्रतिके राज्यमें आ गया हो। जिन क्षुद्र अभावोंपर सांसारिक व्यक्ति नित्यप्रति दुःख-क्लेश भोगते हैं, वे आत्मवादी सिद्धको वस्तुतः अत्यन्त तुच्छ, क्षुद्र तथा सारहीन प्रतीत होते हैं। कारण, वह अपनी सत्-चित्-आनन्दमयी आत्माके विकासके कारण विक्षेप-रहित, शान्त तथा उद्वेगसे मुक्त रहता है और अपने ईश्वरत्वके वातावरणमें निवास करता है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोणको सिद्ध करने और सनातन सुख प्राप्त करानेवाला एक संक्षिप्त साधन है—वह है अपनी आत्मा-को पहचानकर विश्वमें उसकी छाया देखना। हममें वे सब दैवी सिद्धियाँ हैं, जो ईश्वरमें हैं। सांसारिकता, तृष्णा और तुच्छ स्वार्थको तिलाञ्जलि देकर अपनी आत्माकी दिव्य शक्तियोंकी अभिवृद्धि करनेका प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण अधिकार है। मैं वास्तवमें आत्मा हूँ, अविनाशी हूँ। मेरी इन्द्रियाँ मेरे मनके अधीन रहती हैं। मैं निर्भय होकर संसार-में विचरण करता हूँ। चाहे कैसा भी बाह्य संघर्ष हो,

विपदाएँ या विरोध हों, प्रतिकूल प्रसङ्ग हों, मेरी आत्माको उनसे कोई हानि होनेवाली नहीं है। मैंने अपने मनकी बागडोर अपने मनके हाथमें दे दी है। स्वार्थ, संकुचितता, निर्धनता, अभाव—मेरे आत्म-राज्यमें विद्रोह नहीं खड़ा कर सकते। मेरा मन दृढ़ आत्मसंकल्पयुक्त हो गया है।'—इस प्रकारके विचार मनमें रखनेसे हमें अनुभव होने लगता है-कि परमात्माने अपने पुत्रोंको किसी भी वस्तुसे वञ्चित नहीं किया है, जो वास्तवमें उनके लिये उपयोगी हो।

तुम अनन्त सामर्थ्योंसे भरे पड़े हो। ज्यों-ज्यों अन्तरात्मामें स्थित सामर्थ्योंको प्रकट करोगे, आत्मभावका अभ्यास करोगे, अपने-आप पैदा की हुई संकुचित मनः-स्थितिसे मुक्त होते जाओगे, त्यों-त्यों विकास्मय जीवन दूर होता जायगा और इन्द्रियाँ उच्च प्रकारके आनन्दोंका पान करने लगेंगी। विश्वास कीजिये—सब अभाव, पाप, दुःख, क्लेश, भय और सांसारिक चिन्ताएँ स्वयं आपकीही पैदा की हुई हैं। आपकी आत्मामें ये बन्धन नहीं हैं। इन्हें छोड़कर पृथक् हो जाइये और उस आत्मप्रदेशमें प्रविष्ट हूजिये जहाँ पूर्ण सुख, परम आनन्द और परमशान्ति मिलती है।

आपके प्रेमकी शक्ति, परोपकारकी शक्ति, सहानुभूति, दया, करुणाकी नाना शक्तियाँ, भगवत्प्रेमकी अनेक दिव्य शक्तियाँ आपके अन्तर्मनमें सुप्त पड़ी हैं। आपने अज्ञानवश उनका विकास नहीं किया है। अखण्ड विश्वास और सतत अभ्यासद्वारा उन्हें जाग्रत् भर करनेकी आवश्यकता है। ध्यान तथा मननसे इनको दृढ़ किया जा सकता है। परम प्रभुका ध्यान, उसीमें एकाग्रता, जपद्वारा पुनः-पुनः स्मरण द्वारा हम अपनी आत्माकी शक्तियाँ बढ़ा सकते हैं।

कितने ही व्यक्ति अज्ञानवश यह समझ बैठे हैं कि हम सुखशान्ति या दिव्यता नहीं प्राप्त कर सकते। प्रतिभा, सिद्धियाँ और शक्तियाँ ईश्वरदत्त प्रसाद हैं। क्या आप भी यही सोचते हैं? यदि ऐसा है तो यह भ्रम मनसे आज ही निकाल दीजिये। प्रकृतिने आपको भी यथेष्ट साधन और सामर्थ्य प्रदान किये हैं। ज्यों-ज्यों विशुद्ध आत्मिक भाव तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों ज्ञानरूपी दीपकका प्रकाश, दिव्य सामर्थ्य और मनोबल भी बढ़ते जाते हैं। भौतिक क्षणिक सुख और विकारजनित मोह-तिमिर नष्ट हो जाता है। मनकी वृत्तियोंका भयंकर उत्पात, निरन्तर चापल्य, दारुण प्रहार शान्त हो जाते हैं। बाह्य जगत्के मिथ्या प्रपञ्चों, थोथे प्रतिबन्धोंसे मुक्त होकर मनुष्य अलभ्य दैवी सामर्थ्य प्राप्त करता है।

तुम निज आत्मामें प्रवेश करो। वही तुम्हारा वास्तविक सत्-चित्- आनन्द, परम विशुद्ध स्वरूप है। वह ऐसा प्रदेश है जहाँ पूर्ण सुख, परम आनन्द एवं परम शान्ति प्राप्त होती है। भ्रान्तियों तथा अज्ञान-जन्य निश्चयोंसे मुक्ति दिलानेवाला आत्मतत्त्व ही है। उसीमें वृत्तियोंको अन्तर्मुख करनेपर शान्ति प्राप्त होती है।

आत्मदृष्टिकी प्राप्तिपर रोग, दुःख, शोक, अभाव, जय, पराजय, मान-अपमान, तृष्णा, क्षुधा, हर्ष-शोक हमें परीशान नहीं कर सकते। हमारी आत्माको ये सब बन्धनमें नहीं बाँध सकते। आत्माको जाननेपर जाननेके लिये और कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

जो सनातन सुख है, जो समग्र विश्वमें प्रतिच्छाया रूपसे वर्तमान है, जो अपनी उन्मुक्ततासे सर्वत्र प्रशान्त प्रकाश विकीर्ण करता है, जो अन्धकारके गहन कूपसे निकालकर हमें अद्वितीय परम आत्माका दर्शन कराता है, वह मनः-स्थिति प्राप्त कर लेना ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। यही परम शाश्वत एवं अटल सत्य है। आत्मामें प्रवेश करनेसे ज्ञानचक्षु खुलते और समस्त बन्धन और अभाव दूर हो जाते हैं।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठोपनिषद्)

'तू आत्माको रथका स्वामी जान, शरीरको रथ जान और बुद्धिको सारथि जान और मनको लगाम जानकर व्यवहार कर।'

एक ही देव सब भूतोंमें छिपा हुआ है, सबमें व्यापक है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अधिष्ठाता है, सब भूतोंका वास-स्थान है, साक्षी है, चेतन है, अकेला है और निर्गुण है।

लक्ष्यवेध

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

आज चरणाद्रि (चुनार) के राजकुमार ऋतक्रथुका समावर्तन-संस्कार था । राजकुमार पूरे बारह वर्ष महर्षि भरद्वाजके आश्रममें रहे हैं । शास्त्र एवं शस्त्र दोनों विद्याओंके पारंगत महर्षिके चरणोंमें रहकर राजकुमारने जहाँ धनुर्वेदमें निपुणता प्राप्त की है, वहीं नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा श्रुतिका भी उन्होंने पर्याप्त अच्छा अध्ययन किया है ।

बारह वर्ष जटा-वल्कल एवं मौञ्जी-मेखलाधारी ब्रह्मचारी राजकुमारके शरीरपर आज कौशेयवस्त्र तथा रत्नाभरण आये हैं । आज उसके केश सुलझे हैं और उनमें सुगन्धित तैल पड़ा है । राजकीय रथ आज अपने राजकुमारको लेने आया है ।

अधीतविद्य राजकुमारने महर्षिको आग्रहपूर्वक गुरुदक्षिणा दी है । आश्रमसे विदा होते समय सहाध्यायियोंको अङ्कमाल देकर जब राजकुमारने रथारूढ़ होनेसे पूर्व महर्षिके चरणोंमें मस्तक रक्खा, महर्षिका दक्षिण हस्त राजकुमारके मस्तकपर आ गया और उनकी आशीर्वाद-वाणी गूँजी 'लक्ष्यवेध प्राप्त करो वत्स !'

'लक्ष्यवेध प्राप्त करो !' राजकुमार किंचित् चौंके थे । महर्षिकी सेवामें रहते हुए, अपनी शिक्षाके मध्य उनका बाण कभी लक्ष्यच्युत हुआ हो, यह उन्हें स्मरण नहीं । अपने सहाध्यायियोंमें अकेले वे शब्दवेध कर सकते थे । महर्षिने स्वयं उनके हस्तलाघवकी तथा लक्ष्यवेधकी प्रशंसा की है अनेक बार । ऐसी दशामें महर्षिका यह आशीर्वाद !

राजकुमार विनयशील हैं । वे जानते हैं कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं । महर्षि सर्वज्ञ हैं । अपने शिष्यकी दैहिक एवं बौद्धिक शक्ति उनसे अज्ञात नहीं है । चलते-चलते उन्होंने यह आशीर्वाद दिया है, इसका अर्थ ही है कि वे नहीं चाहते कि उनसे उनका शिष्य आशीर्वादका स्पष्टीकरण पूछे । अवश्य इसका कुछ गम्भीर तात्पर्य है और जब महर्षि समझते हैं कि उनका अन्तेवासी अपने चिन्तनसे उस तात्पर्यतक पहुँचनेमें सक्षम है, चिन्तन ही करना चाहिये ।

आज समावर्तनका दिन है । चरणाद्रिका उत्तरदायित्व अब आनेवाला है राजकुमारके कंधोंपर । अतः उन्होंने सोचना प्रारम्भ कर दिया कि उनके राज्यका, उनके कुलका लक्ष्य क्या है । ऐसी कौन-सी महत्त्वाकाङ्क्षा है, जिसे चरणाद्रिके उनके पूर्व-पुरुष अबतक प्राप्त नहीं कर सके हैं । राज्यकी सीमाका विस्तार ? शत्रुका प्रतिशोध ? कोई अपूर्ण कृति ? किसी मित्रके उपकारका प्रत्युपकार ? अनेक बातें ध्यानमें आयीं । राजकुमार अभी अपने राज्यके विषयमें अधिक जानते भी कहाँ हैं । वे जब केवल सात वर्षके थे, महर्षिके आश्रममें आये थे । चरणाद्रि समीप है प्रयागसे । आश्रममें अनेक बार राजपुरुष महर्षिके दर्शन करने आते थे; किंतु इस प्रकार प्राप्त विवरण पूर्ण तो नहीं हैं ।

राजसदन लौटनेपर जो समारोह होता था, पूरे उत्साहसे हुआ । नीतिनिपुण राजकुमारने राज्यके कार्य सम्हालने प्रारम्भ कर दिये । महाराजका, महामन्त्रीका और प्रजाका सहयोग एवं स्नेह अर्जित करनेमें उन्हें अधिक समय नहीं लगा । वृद्ध महाराजने जब वानप्रस्थ-ग्रहणका निश्चय किया, राजकुमार चरणाद्रिके सिंहासनपर अभिषिक्त हुए ।

× × ×

समय किसीकी प्रतीक्षा कहाँ करता है । फल लगता है, बढ़ता है, पकता है और टपक पड़ता है । भगवान् काल प्रत्येक परिपक्व फलको खा लेते हैं । जो राजकुमार थे, नरेश हुए, विवाह किया, संतानें हुईं और श्वेतकेश हो गये । चरणाद्रि-नरेश ऋतक्रथुको श्वेत केशोंने कालभगवान्का संदेश दिया—'अब यह देहरूपी फल उनका ग्रास बननेके समीप है ।'

जिसने बाल्यकालमें संयमका अभ्यास किया हो, यौवन उसे प्रमत्त नहीं कर पाता । उसके भोग धर्मके नियन्त्रणमें रहते हैं और जब यौवनमें भोग उच्छृङ्खल न बना सकें,

वार्धक्य देहकी चिन्ता नहीं दे पाता। जो भोगमें संयत रहा है, क्षीयमाण देहकी आसक्ति उसे अपनी शृङ्खलामें घेरनेमें असमर्थ रहती है।

चरणाद्रि-नरेशने अपने शासनकालमें राज्यकी कोई महत्त्वाकाङ्क्षा अपूर्ण नहीं रहने दी। अब देहका, भोगका मोह उन्हें किसलिये हो सकता था। पुत्रको सिंहासनपर बैठाया, पत्नीका भार पुत्रपर छोड़ा और एकाकी, निराभरण, नंगे पैर राजसदनसे निकले वे।

नरेशने चित्रकूटके दिव्य क्षेत्रमें वानप्रस्थका काल व्यतीत करनेका निश्चय किया था। चरणाद्रिसे चलते हुए वे प्रयाग आये और त्रिवेणी-स्नान करके गुरुदेवके आशीर्वादकी आकाङ्क्षा उन्हें महर्षि भरद्वाजके आश्रममें ले आयी।

कितनी स्मृतियाँ साथ हैं इस आश्रमकी। यह जाह्नवी एवं कालिन्दीकी धाराओंसे धौत प्रयागकी परम पावन अन्तर्वेद-भूमि। यहाँ बाल्यकालका वह गुरुकुलवास, वे समिधा-हरण, हवन, अध्ययनके पुनीत दिवस। आज फिर देह निराभरण है। मस्तक मुण्डित है। कटिमें कौपीन है और हाथमें कमण्डलु है। कुछ अधिक उपकरण हैं, अग्नि साथ है। अन्ततः वे अब वानप्रस्थ हैं। किंतु बार-बार लगता है—जैसे वह दिन फिर आ गया है, जब उपनयन-संस्कारके पश्चात् वे इस आश्रममें आये थे।

'आज हमारा आतिथ्य स्वीकार करो वत्स!' महर्षि भरद्वाजने आशीर्वादके अनन्तर अर्घ्यपात्र जब उठाया, बड़ा संकोच—बड़ा विचित्र लगा ऋतक्रथुको। किंतु महर्षि कह रहे थे—'अब न तुम यहाँके अन्तेवासी हो और न चरणाद्रिके नरेश। तपोवनको जाते गृहत्यागी वानप्रस्थका आतिथ्य करना चाहिये मुझ-जैसे आश्रमस्थको। अतिथि व्यक्ति नहीं होता। वह भगवान् नारायणका साक्षात् स्वरूप होता है। तुम्हारे लिये संकोचका कोई कारण नहीं है।'

महर्षिका आदेश टाला नहीं जा सकता था। यह अनुग्रह किया उन्होंने कि अतिथि-अर्चनका कार्य अपने छात्रोंपर छोड़ दिया। महर्षिकी अग्निशालामें रात्रि-विश्राम किया ऋतक्रथुने और प्रातः त्रिवेणी-स्नान करके, आह्निक कृत्योंकी समाप्तिके पश्चात् प्रस्थानसे पूर्व जब उन्होंने महर्षिके श्रीचरणोंमें मस्तक रक्खा, महर्षिका दक्षिण हस्त मस्तकपर आ गया। उनकी वही आशीर्वाद-वाणी गूँजी—'लक्ष्यवेध प्राप्त करो वत्स!'

ऋतक्रथु फिर चौंके, जैसे वर्षों पूर्व समावर्तन-संस्कारके दिन वे चौंके थे। महर्षिने आज भी प्रस्थानके समय यह आशीर्वाद दिया है। अपने शिष्यकी प्रज्ञामें उन्हें आज भी उतनी ही आस्था है। उनके आशीर्वादका तात्पर्य पूरे शासनकालमें भले उनका शिष्य समझ नहीं सका; किंतु सर्वज्ञ महर्षि जब उसे इसे समझने योग्य मानते हैं, समझना ही होगा उसे।

उस समय अधिक अवकाश नहीं था। आज कोई राजरथ ऋतक्रथुको लेने नहीं आनेवाला था। उन्हें पैदल यात्रा करनी थी, अपने अग्नि तथा अग्निहोत्रके उपकरण स्वयं उन्हें ले जाने थे और त्रिकाल-संध्या, स्नान, हवनादि करते ही चलना था उनको।

× × ×

चित्रकूट क्षेत्रमें ऋतक्रथुने गुप्त गोदावरीकी गुफाको अपना अग्निगृह बनाया। आसपास उस समय न कोई ग्राम था और न आजके समान कुटीरें थीं। घोर वन, वन-पशु और बीहड़ प्रदेश। लेकिन गुफाके मध्यसे निकलती कलकल करती जलधारा—वानप्रस्थ तपस्वीको अग्नि-रक्षामात्रके लिये छाया तथा आह्निक-निर्वाहके लिये जलका सामीप्य—बस, इतनी सुविधा ही तो चाहिये।

वनमें बिल्व, आमलकी तथा कुछ कन्द मिल जाते हैं। उनका संग्रह गुफामें सुरक्षित रहता है। मुन्यन्न घासके बीजोंकी अपेक्षा ऋतक्रथुको नहीं थी। अग्निहोत्रके अतिरिक्त वे गुफामें जाते नहीं थे। शीतकालके दिन जलधारा गिरनेवाले कुण्डमें वे ध्यानस्थ रहते और ग्रीष्मकी लू तथा वर्षाकी झड़ियाँ शिलातलपर बैठे उस तापसका सत्कार करती थीं।

'लक्ष्यवेध प्राप्त हो!' महर्षि भरद्वाजका आशीर्वाद ऋतक्रथुके मननका सूत्र बन गया था। शस्त्रका न्यास करके वनको प्रस्थान करनेवाले तपस्वीको दिया गया यह आशीर्वाद—कोई भौतिक लक्ष्यवेध उसका तात्पर्य नहीं हो सकता, यह बहुत स्पष्ट बात थी। ऋतक्रथुको कोई विलम्ब नहीं हुआ था यह समझनेमें कि महर्षिका तात्पर्य क्या है।

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।'

यह श्रुति शीघ्र स्मृतिमें आ गयी और उन्होंने यह समझ लिया कि महर्षिने आशीर्वादके रूपमें उन्हें प्रणवकी साधनाका आदेश दिया है।

'तज्जपस्तदर्थभावनम् ।'

ऋतक्रथु प्रणवके अर्थके निदिध्यासनमें ही आजकल लगे रहते हैं।

× × ×

बड़ा कठोर है वानप्रस्थाश्रम। ठीक ही इसका निषेध स्मृतिने कलिमें किया है। दुर्बल देह, क्षीणप्राण, हीनसत्त्व कलिके मानव वानप्रस्थके कठोर तपका कैसे आचरण कर सकते हैं? पूर्वयुगोंमें भी यह अत्यन्त दुस्सह था। द्वादशवर्ष तो अधिक-से-अधिक अवधि है, अन्यथा पाँच, तीन या एक—जितनी अपनेमें शक्ति लगे, केवल उतने समयका संकल्प करके यह आश्रम त्रेतादिमें भी स्वीकार किया जाता था।

कोई अपवाद नहीं। शरीर रोगी है, देहमें तपकी, त्रिकाल स्नानकी शक्ति नहीं; किंतु वानप्रस्थ आश्रममें तो नियम-त्यागकी विधि नहीं है। नियम पालन करो, और न कर सको तो अनशन करके या अग्निमें देहकी आहुति देकर प्राण त्याग करो। विश्राम, ओषधि, तप-विरतिके लिये कोई स्थान नहीं यहाँ!

ऋतक्रथुने पूरे द्वादश वर्षका नियम लिया था। नियम पूरा हो जाता; किंतु प्रारब्ध जब अनुकूल न हो, प्राणी कर क्या सकता है। केवल कुछ दिन शेष रहे थे संकल्पित अवधि पूर्ण होनेके और देहको ज्वरने अपना आखेट बना लिया।

'लक्ष्यवेध प्राप्त नहीं हुआ।' प्राणका मोह तपस्वीको नहीं होता। जीवन रखना वह चाहे, जो देहको भोग दे रहा हो। किंतु ऋतक्रथुको क्लेश यह था कि जीवनका लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ।

'महर्षिकी वाणी असत्यका स्पर्श नहीं करती, उनका आशीर्वाद व्यर्थ नहीं जा सकता।' ऋतक्रथु अभीतक ज्वराक्रान्त रहते भी नियमपालनमें शिथिल नहीं हुए हैं। आज लगता है कि अब आसनसे उठना कदाचित् सम्भव न हो और इसीसे वे विशेष चिन्तित हैं। आज मनोमन्थन प्रबल हो उठा है—'कहीं त्रुटि है। कहीं प्रमाद हो रहा है गुरुदेव!'

आर्त प्राणीकी पुकार यदि व्यर्थ जाने लगे, विश्वात्माको कौन सर्वज्ञ और सकरुण कहे? सहसा ज्योति आ गयी तपस्वी ऋतक्रथुके मुखपर। वे स्वयं बोल उठे—'तू क्षत्रिय है। धनुर्धर रहा है और ज्या चढ़ाये बिना शिथिल धनुषसे तू लक्ष्यवेध करनेका प्रयत्न कर रहा है? इतनी सीधी बात तेरी समझमें नहीं आती कि ज्या पहिले चढ़नी चाहिये।'

प्रणवका धनुष। अकार, उकार और मकार इनका एकीभाव 'प्रणव'। अकार और मकार इस धनुषकी दो कोटि (नोकें) और उकार इसकी प्रत्यञ्चा। अकार-से उठकर मकारतक पहुँचनेमें उकारको खींचकर उठाये चलती प्राणोंकी प्रत्यञ्चा यदि शिथिल हो, प्रणवकी साधना सम्यक् पूर्ण कहाँ हुई।

ऋतक्रथु तपस्वी, त्यागी, वासना-वर्जित शम-दम, उपरति-तितिक्षा-सम्पन्न श्रेष्ठतम अधिकारी हैं। उनके चित्तमें मल तो तब भी नहीं था, जब वे तपोवन आये थे। पूरे बारह वर्ष होनेको आ रहे हैं। विक्षेप क्या होता है—उनका मन यह बात भी भूल चुका है। अब ऐसे अधिकारी-का आवरण कबतक टिका रह सकता था।

बात ध्यानमें आयी नहीं, विलम्ब इतना ही था। शरीर कुछ और सीधा हो गया। मूलाधारसे उठकर मूर्धातक गूँजता दीर्घ घण्टानादके समान प्रणवका नाद प्राणोंने उठाया उसे प्रथम, यह ठीक है; किंतु आवृत्ति दसतक पहुँचे, उससे पूर्व ही वह अनाहतके मेघगर्जनसे एक हो गया।

नाद—केवल नाद! त्रिमात्रा नादमें लीन हो गयीं और चन्द्राकार अमृतोज्ज्वल दिव्यनाद चलता रहा—चलता रहा नाद और कब बिन्दुमें वह लय हुआ, कोई साक्षी पृथक् रह गया हो तो यह बतावे।

स्थिर, निष्कम्प, प्रकाशपुञ्ज देह ऋतक्रथु। जिसका बिन्दुवेध—लक्ष्यवेध हो चुका, उससे कौन कहेगा कि अब स्नान-संध्याका समय हो गया। उसके लिये तो श्रुतिने भी घोषणा कर रक्खी है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सद्व्यवहारका फल

जब मैं बारह वर्षकी थी, तब वे दोनों दो वर्षके होंगे। पर ऐसा अनुमान होता था कि वे मुझसे अधिक आयुके हैं। मैं उनपर आसक्त—न्यौछावर हो चुकी थी। वे मुझे पतनकी ओर ले जायँगे, मुझे यह ध्यान ही न था। मैं सदा उन्हें अपने साथ रखती थी स्कूल घर-बाहर सभी जगह। शयनागारमें भी मैं उनका साथ नहीं छोड़ती। दो तरफ वे दोनों और बीचमें मैं।

मुझे इसमें बड़ा आनन्द आता। पर मेरा यह आनन्द जब कभी पिताजीके सामने स्पष्ट हो जाता तो वे ऐसे देखते जैसे सिंह गायको देखता है; पर मुझे किसीकी बात माननी नहीं थी। मैं न मानी। अब तो सबके सामने वे दोनों प्रत्यक्ष रूपमें मेरे साथ रहने लगे। एक क्षणके लिये भी मेरे पास वे न होते तो ऐसा लगता कि मैं किसी ऐसी अमूल्य वस्तुको खो बैठी हूँ, जिसके बिना मेरा जीवन बेकार है।

तीन सौ साठ दिन बीते। मैं तेरह वर्षकी हुई और घरसे मेरा हुआ निष्कासन, मैं दूसरे घर गयी। बेटीसे बहू बनी, पत्नी बनी, गृहिणी बनी। स्वतन्त्रताके मुँह-खोल वातावरणसे घूँघटमें आयी। और मग्न हो गयी उसी संसारमें, किंतु इतनेपर भी मुझे कोई भय नहीं था। मैं अपने उन दोनों साथियोंको साथ ही लायी और साथ ही रखने लगी। मेरी सेवासे मेरे सास-ससुर सभी प्रसन्न थे, इसलिये वे कुछ बोलते नहीं थे।

मुझे डर था केवल उनका। एक दिन उन कल्याण-प्रेमीने कहा—'शान्ति! मेरे साथ रहकर तुम्हें यह शोभा नहीं देता। अतः इन दोनोंको यहाँसे भगा दो।' कभी-कभी मैं हँसकर टाल देती, कभी उत्तर न देती और कभी खीझकर कह देती—'जाइये आप! मैं नहीं छोड़ सकती। ये मेरे बचपनके दोस्त हैं।' मेरी इन बातोंसे उनके हृदयपर चोट लगती होगी, किंतु वे बिना कुछ कहे सुन लेते।

एक दिन फिर यों ही उन्होंने कहा—'शान्ति! छोड़ दो इन्हें।' उस समय मैं खीझ गयी। और बोली—'नहीं छोड़ती, जाओ, जो करना हो सो करो। रोज यही छोड़ दो, छोड़ दो, छोड़ दो की रट लगी रहती है।' यों कहती हुई मैं दूसरे कमरेमें चली गयी। वे चुपचाप कुछ क्षण खड़े रहे, फिर हँसकर बाहर चले गये। उस दिनसे मैं नाराज हो गयी। मैंने बोलना बंद कर दिया। किंतु वे मौन नहीं रहे। वही प्रेम, वही बर्ताव, होठोंपर वही मुसकान नाचती रही। छोड़ दो कहनेकी जगह अब वे स्वयं उन दोनोंका पूर्ण प्रबन्ध भी करने लगे। मुझे तो बोलना था नहीं, सो मैं नहीं बोली एक माह। माताजीसे बात छिपी न रह सकी। एक दिन पूछ ही तो लिया उनसे—'बेटा! तेरे पाँव एक महीनेसे घरमें नहीं जमते। क्या बात है? झगड़ा कर लिया है क्या तुमलोगोंने?' उत्तरमें उन्होंने कहा—'नहीं माँ, झगड़ा कैसा। मैं एक दूसरे काममें लगा रहता हूँ, इसलिये घरमें कम बैठता हूँ।' मैं सुनकर चकित हो गयी। पर मेरे बर्तावमें कोई अन्तर नहीं पड़ा।

एक दिन उनके कई मित्र घरपर आये। बात चल पड़ी। एक मित्रने कहा—'भाई! तुम तो सुपारी-तम्बाकू अभियान चला रहे हो, दूसरोंको रोक रहे हो, पर तुमने कभी अपने घरपर भी दृष्टि डाली है? मैंने तुम्हारे कहनेसे बीड़ी छोड़ दी।' किसीने कहा 'सिगरेट छोड़ दी', किसीने कहा 'तम्बाकू छोड़ दी।' एकने कहा, 'मैंने तुम्हारे कहनेसे गाँजातक छोड़ दिया। किंतु तुम्हारी शान्तिने तो अपने दोनों दुर्व्यसन—सुपारी-तम्बाकूको अपना ही रक्खा है। इसका तो यही अर्थ होता है कि वह तुम्हारी बात नहीं मानती।'

मैं किवाड़की आड़में खड़ी सब सुन रही थी। उत्तरमें उन्होंने कहा—'ऐसी बात नहीं है, वह तो बड़ी सीधी, शुद्ध बुद्धिकी भोली-भाली प्रेमप्रतिमा है। मुझे न जाने क्या समझकर मेरी इतनी सेवा करती है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। इस विषयमें मैंने आजतक उससे कुछ कहा ही नहीं। तुमलोग विश्वास रक्खो। यदि मैं उससे एक बार भी कह दूँ तो वह अवश्य छोड़ देगी। अवसर आने दो, वह भी कर दिखाऊँगा।'

पञ्चायत समाप्त हुई। सब लोग चले गये। किंतु वे बैठे सोच रहे थे, क्या? सो कैसे कहूँ। पर उनकी उपर्युक्त बातोंपर मेरा हृदय टूक-टूक हो गया। जिससे मैं बोलती नहीं, वह मेरी बड़ाई करता है; जिससे मैं क्षमा नहीं माँगती, वह

मुझसे प्रेम करता है; मेरा जीवन-साथी है; जिसे मैं हर क्षण कुछ-न-कुछ कह ही दिया करती हूँ, वह हँसकर मुझे कितने विशेष आदर तथा प्यारभरे शब्दोंसे सम्बोधित करता है। वह मेरा देवता है। मेरी नैयाका कर्णधार है और मैं इतनी दुष्टा हूँ कि उसकी एक बात भी नहीं मान सकती।'

उसी क्षण मैं उनके पैरोंमें गिर पड़ी और बोली—'मुझे क्षमा कर दें। मैं वचन देती हूँ कि आजसे मैं तम्बाकू-सुपारी कभी नहीं खाऊँगी।' जीवनमें यह बड़ा सौभाग्यशाली दिन था जिस दिन मैं उनकी बातों तथा 'कल्याण' के उपदेशों-पर विश्वासकर इन दुर्व्यसनोंसे मुक्त हुई।

—शान्ति देवी शर्मा

(२)

दयालु देवीमाई

नासिकमें 'देवीमाई' नामका अस्पताल है। इस नामके पीछे कुछ इतिहास है। देवीके पतिकी मृत्यु हो गयी। उसके भाग्यमें इस युवावस्थामें वैधव्यका आघात लगना लिखा था। उसके ससुरालमें उसके ननदोई थे, वे भी तत्काल जाते रहे और ननद बहुत बीमार पड़ गयी। सब कहने लगे 'यह देवी ही सबको खाये जा रही है।' वह पीहर गयी तो उसकी छोटी बहिन बहुत बीमार हो गयी''देवीके प्रति शङ्का बढ़ने लगी। सभी उसे सर्वभक्षी राक्षसी-बलकी प्रतिनिधिरूप मानने लगे।

ऐसे वातावरणमें कभी तो देवीको अपना जीवन भाररूप लगता। कभी जीवनका अन्त कर डालनेकी उसके मनमें आती। कोई भी उसके प्रति क्षणभरके लिये भी सहानुभूति नहीं दिखाता। हाँ, उसका एक भाई अवश्य उसका ध्यान रखता।

आखिर इस भाईने उसे नर्सके ट्रेनिंग स्कूलमें भर्ती करा दिया। देवी नर्सकी शिक्षा प्राप्त करके एक छोटे-से प्रसूति-गृहमें नियुक्त हो गयी। इस प्रसूतिगृहकी मुख्य संचालिका एक अंग्रेज-महिला थी।

एक बार एक नीची जातिकी बहिन प्रसूतिगृहमें भर्ती हुई। रातको उसके पेटमें दर्द शुरू हुआ। उसे पाखानेमें ले जानेकी स्थिति नहीं थी, पर अस्पतालमें पाखानेका टब (कमोड) केवल अंग्रेजों और यूरोपियनोंके लिये ही था। देवीने इस नियमका भङ्ग किया और कमोडको वह उस बहिनके पास ले गयी।

दूसरे दिन इस बातका पता लगनेपर उस अंग्रेज-महिलाका पारा चढ़ गया। उसने देवीके साथ बहुत कड़ाईसे बातें कीं। इतनेपर भी देवीने सहज स्वरमें इतना ही कहा—'ऊँच-नीचका भेद तो हमलोगोंने बना लिया है। धर्मकी दृष्टिसे तो सभी एक कुटुम्बकी संतान हैं।'

अंग्रेज-महिलाने देवीको प्रसूतिगृहसे निकाल दिया। परंतु अब देवीका जीवनकार्य सँभल चुका था। अब उसे जीवनमें कहीं निराशा या असहायपन नहीं भासता था। देवीने अंग्रेज-महिलाका अस्पताल छोड़नेके बाद बचाये हुए वेतनके पैसोंसे तथा भाईकी मददसे पाँच-छः खाटवाले एक कमरेका अस्पताल शुरू किया। इस कमरेकी व्यवस्था उसके भाईने कर दी थी।

अब देवी केवल रोगियोंकी चारपाईके पास रात-दिन रहकर खड़े पैरों सेवा करने लगी। अठारह-अठारह, बीस-बीस घंटे लगातार वह मातृहृदयकी सजीव उर्मियोंके साथ रोगियोंका दुःख हल्का किया करती और निःस्वार्थ देख-भाल करती। अन्तमें उसके जीवनकार्यकी सुगन्ध अपने-आप ही सब ओर फैलने लगी। अखबारोंमें विज्ञापन और फोटो छपानेकी उसे जरूरत नहीं पड़ी। उसकी इस उत्कृष्ट सेवाभावनाके कारण अब वह केवल 'देवी' न रहकर लोगोंकी 'देवीमाई' बन गयी।

देवीमाईकी एक कोठरीके नन्हेंसे अस्पतालको चारों ओरसे सहायता मिलने लगी। धीरे-धीरे वह एक भव्य बृहत् अस्पतालके रूपमें परिणत हो गया। इस अस्पतालकी इतनी ख्याति हुई कि उपर्युक्त अंग्रेज-महिला, जो एक समय देवीबाईकी स्वामिनी थी, उसके इस अस्पतालको देखने आयी।

बाहर मिलनेवालोंकी कतार लगी थी, उसीमें वह अंग्रेज-महिला भी खड़ी थी। इस नये अस्पतालका कार्य देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हो रही थी, इसलिये वह इस अस्पताल-की संचालिकाको धन्यवाद देने आयी थी। उसे यह पता नहीं था कि एक समय जिस बहिनको उसने अपमान करके अपने अस्पतालसे निकाल दिया था, वही इस अस्पतालकी मुख्य संचालिका देवीमाई है।

इतनेमें देवीमाई बाहरसे आयी और ज्यों ही वह अंदर जानेको पैर उठा रही थी कि उसकी नजर उस अंग्रेज-महिलापर

पड़ी। देवीमाईको याद आयी कि इसी बहिनके पास मैंने पहले नर्सका काम किया था। देवीमाई अंग्रेज-महिलाको अंदर केबिनमें ले गयी। अंग्रेज-महिला बोलनेमें रुक-सी रही थी, आखिर वह बोली—

'देवी! तुझे धन्य है। तेरे कामको आज मैंने अस्पतालके हर एक हिस्सेमें घूम-घूमकर देखा है। तैंने एक महान् सफलता प्राप्त की है। मानवजातिके दुःखोंको दूर करनेकी तेरी यह रात-दिनकी सतत चिन्ता तेरे सामने—सबके मस्तक झुका देती है। तू मुझे अपनी भूलका प्रायश्चित्त करने देगी?'

तदनन्तर अंग्रेज-महिलाने अपने पर्समेंसे डायरी निकालकर कुछ लिखकर दिया और कहा—'इसको स्वीकार करके मेरी भूलको सुधारनेका अवसर मुझे दे, यही मेरी प्रार्थना है।'

देवीमाईने कागज खोलकर देखा—उसमें उस अंग्रेज-महिलाने लिखा था—'मेरी सारी सम्पत्ति मैं इस अस्पतालको भेट कर रही हूँ—देवीमाईके भव्य जीवनकार्यके प्रति एक तुच्छ नम्र अञ्जलिके रूपमें।' (अखण्ड आनन्द)

—लल्लुभाई बकोरभाई पटेल

(३)

ईमानदारी

एक बार इन्हें अपने दरवाजेके समीप संध्याके समय एक बंडल मिला मानो कोई अदृश्य शक्ति इनकी परीक्षा ले रही हो। इन्होंने घरके भीतर आकर उसे खोला तो देखा उसमें पूरे पंद्रह सौके नोट हैं जो सभी भीगे हैं। उनको स्टोपके सहारे सुखाया, समेटा, फिर तकियेके नीचे रखकर सो गये। पर बगलके मकानमें हल्ला-गुल्ला सुनकर तुरंत जग गये। बगलके मकानमें एक ठेकेदार साहब रहते थे, जातिके मुसलमान थे। जोर-जोरकी आवाज सुनकर ये उधर गये। ऐसा लगा कि अंदर मार-पीट-सी हो रही है। अड़ोस-पड़ोसके कई और लोग भी जुट गये। किंवाड़ खोलकर किसी प्रकार भीतर गये। देखा, बाप-बेटे बेतरह उलझ रहे हैं। एक दूसरेपर डेढ़ हजार रुपये चुरानेका आरोप लगा रहे हैं। बात बहुत बढ़ गयी है। इन्होंने सबकी उपस्थितिमें ही उनसे कहा, 'आपलोग एक दूसरेपर संदेह करके व्यर्थ आपसमें क्यों लड़ रहे हैं? आपलोगोंमेंसे किसीने रुपये नहीं चुराये हैं। रुपये तो हमारे घरमें हैं, मैं अभी लाकर देता हूँ। डेढ़ हजार रुपयेका एक बंडल कुछ देर पहले मुझे आपके मकानके पास ही बाहर पड़ा मिला था।' इन्होंने घर जाकर तुरंत रुपये लाकर दे दिये। सब लोग आश्चर्यचकित रह गये और एक स्वरसे इनकी मानवताकी सराहना करने लगे। ठेकेदार साहेबका गृह-कलह ही नहीं समाप्त हो गया, पिता-पुत्र पश्चात्ताप करने लगे और उनका एक दूसरेपर अपूर्व विश्वास जाग्रत् हो गया। उन लोगोंने आनन्दातिरेकमें रुपये लेनेसे इन्कार किया और कहा कि इनसे सबको भोजन कराया जाय। वे किसी प्रकार न माने तब मुहल्लेवालोंने पाँच सौ रुपये और मिलाकर सब लोगोंको दावत दी। सभी इन सज्जनकी ईमानदारीपर हर्ष प्रकट कर रहे थे। (नाम प्रकट करनेकी अनुमति नहीं है)

—डा० रामेश्वरप्रसाद 'विशारद'

(४)

आश्चर्य घटना

घटना अभी एक वर्षके भीतरकी ही है। मेरे पड़ोसी वाराणसीमें रेलवे कर्मचारी हैं। उनके पुत्र रामभरोस वर्मा सिलाई-मशीन रखकर वाराणसीमें ही रहते हैं। दोनों बाप-बेटेके निवासस्थानमें चार फर्लांगका अन्तर है। दोनों रेलवे लाइनके दोनों ओर रहते हैं। परंतु रामभरोस दोनों समय अपने पिताके क्वार्टरपर भोजन करने जाते हैं। एक दिनकी बात है कि रामभरोसके पिताने दोपहरको रामभरोससे कहा कि 'शामको हमें दस रुपये जरूर मिलने चाहिये, नहीं तो बड़ा हर्ज होगा।' रामभरोस अपने किसी ग्राहकसे अपनी मजदूरीके दस रुपये लेकर शामको भोजन करने अपने पिताके क्वार्टरपर जा रहे थे। वाराणसी स्टेशनपर पुलके द्वारा लाइन लाँघकर प्लेटफार्मपर पहुँचे तो देखा कि एक युवतीको कुछ रेलवे कर्मचारी बहुत परेशान कर रहे हैं। रामभरोस भी वहाँ खड़े हो गये। पता लगा कि उस युवतीके पास टिकट नहीं है और वह अपने साथियोंसे अलग होकर भूलसे वाराणसी स्टेशनपर पहुँच गयी है। रेलवे बाबूने उस लड़कीको गाली दी, रामभरोस इसे सहन न कर सके। उन्होंने कहा 'आपलोग गाली क्यों देते हैं?' इतना सुनते ही गाली देनेवाले उस रेलवे बाबूने बिगड़कर कहा, 'यह बिना टिकटके उतरी है, आप ही चार्ज दे दीजिये। आठ रुपये कुछ पैसे होते हैं।' भगवत्-कृपासे रामभरोसको आवेश आ गया और वही दस रुपयेका नोट, जो अपने पिताको देने ले जा रहे थे, रामभरोसने

पेश कर दिया और उनसे रसीद लेकर लड़कीको जहाँ जाना था, वहाँका टिकट खरीदकर दे दिया।

इससे रामभरोसको बड़ा आत्मसंतोष हुआ, पर वे सोचने लगे कि यदि मैं भोजन करने घर जाऊँगा तो पिताजी पैसेके लिये नाराज होंगे। यों सोचते हुए भूखसे व्याकुल वे प्लेट-फार्मपर रेलकी पटरीकी ओर अपनी नजर लगाये हुए टहल रहे थे कि इनको सहसा नीचे एक चमकीला कागज (सिगरेटकी पन्नी), जिसपर किसीने पान खाकर थूक दिया था, दिखायी दिया। इन्होंने क्या वस्तु है यह जाननेके लिये उसे उठा लिया। इनके आश्चर्यका ठिकाना ही नहीं, उस चमकीले कागजके नीचे एक कागजमें सुरक्षित दस रुपयेका एक नोट रक्खा था। इन्होंने उसे उठा लिया और सहसा मुखसे निकला कि बाबा विश्वनाथकी नगरीमें मैं बिना भोजन किये कैसे सोता। मन-ही-मन भगवान्का गुण गाते हुए वे अपने पिताके क्वार्टरपर गये और अपने पिताजीको रुपये दे दिये। तदनन्तर भोजन करके अपनी दूकानपर लौट आये।

उस युवतीने रामभरोससे इनका पता पूछकर नोट कर लिया था। घटनाके तीसरे दिन सूटबूटसे सज्जित एक सज्जन रामभरोस टेलर मास्टरको पूछते हुए उनकी दूकानपर आये और इनको परसोंकी बीती बातोंकी याद दिलाकर इनको दस रुपये देते हुए बोले कि 'वह मेरी बहिन थी।' रामभरोसने कहा कि 'भाई साहेब, मुझे तो उसी दिन रुपये मिल गये।' फिर सारी बातें बतलायीं। तब आगन्तुकने कहा कि 'यह तो आपको भगवान्ने पुरस्काररूपमें दिया है' और वह नमस्ते करके चले गये। रामभरोसने घर आनेपर मुझको ये सब बातें बतलायीं।

—श्रीसाहबशरण लाल शर्मा

(५)

मार्ग भूली बहिनको सचमुच मानो भगवान् मिल गये

एक बार एक अधेड़ उम्रकी बहिन मेरे यहाँ आयी, मेरे सामने खड़ी होकर बोली—'भाई! आपके पड़ोसी नानालाल भाईने मुझे आपके पास कुछ सलाह पूछनेके लिये भेजा है।'

'अच्छी बात है, आइये, बैठिये।' मेरे यों कहनेपर वह मेरे सामने बिछी हुई शतरंजीपर बैठ गयी और बोली—'भाई, मैं एक दुखियारी विधवा हूँ। एक समय मैं सुखी थी, सगे-सम्बन्धी थे, पैसे थे, घर था; पर आज इनमेंसे कुछ भी नहीं है। मैं जिनको अपना कह सकती हूँ, वे मेरे सामने भी नहीं देखते। किंतु भाई, एक प्रकारसे कहूँ तो इसमें दोष मेरा है, मैं अपने ही दोषसे दुखी हुई हूँ।'

यों कहते-कहते उसकी आँखोंमें आँसू भर आये। मैंने उसे धीरज देनी चाही, पर दसेक मिनट तक वह सुबक-सुबक कर रोती रही, फिर शान्त हुई। तदनन्तर उसने अपनी सारी बातें पेट खोलकर मुझे सुनायीं।

उसकी बातोंका सार यह था कि वह एक सुखी पिताकी पुत्री और सुखी पतिकी पत्नी थी। पतिके घरमें आनन्दसे दिन बिता रही थी। दुर्भाग्यसे यौवनमें विधवा हो गयी। संतान थी नहीं। घर तथा पैसा था। वह कुछ स्वार्थी सगे-सम्बन्धियोंके द्वारा फुसलाई जाकर लूटी जाने लगी। दूसरी ओर वह पतिके स्वार्थी मित्रोंके फंदेमें पड़ी। थोड़ेमें कहें तो वह बहिन अपने यौवन, घर, धन तथा पीहर-ससुरालके स्वजनोंकी ममता—सबसे हाथ धो बैठी। उम्र अधेड़ हुई और शेष जीवनमें कठिनाइयाँ दिखायी दीं, तब उसके मनमें भविष्यकी चिन्ता जाग्रत् हुई। उसके पास सात-आठ हजार रुपये थे। इन रुपयोंसे वह सुखपूर्वक कैसे अपना जीवन निर्वाह कर सकती है, यही सलाह उसे पूछनी थी।

मैंने कहा—'आप मुझसे सलाह पूछ रही हैं, इस प्रकार दूसरे किसीकी सलाह भी तो आपने ली होगी। अपने सगे-सम्बन्धियों-हितैषियोंसे भी तो पूछा होगा?'

'मैं बहुत जगह ठगायी जा चुकी हूँ। इससे किसीपर भी मेरा विश्वास नहीं रहा। भाई! कुछ सगे-सम्बन्धी तो मेरी ओर देखते ही नहीं। एकने मुझे सलाह दी कि 'तू हमारी फर्ममें रुपये जमा करा दे तो हम तुम्हें अच्छा ब्याज दे दिया करेंगे, जिससे तुम्हें रोटी हो जायगी।' एक परिचित सज्जनने कहा—'तेरे पैसोंमेंसे मेरे मकानपर एक घर बनवा ले, तू उसमें रहा कर और बचे पैसोंसे कोरकसर करके जीवन चलाया कर।' इस प्रकार सभीके हाथका ग्रास उनके अपने मुँहकी तरफ ही जाता है। अतः उनपर मुझे कैसे विश्वास हो?'

बहिन सचमुच बड़े असमंजसमें पड़ी थी, यह मैंने देखा। उसने अपनी इज्जत खो दी थी। इससे कोई भला

आदमी उसके साथ बात भी नहीं करता, फिर उसके काममें तो वह सहयोग देता ही कैसे ? ऐसी विकट स्थितिमें पड़ जानेके कारण ही वह मेरे-जैसे अनजान आदमीके सामने पेट खोलकर बातें करने और सलाह लेने आयी थी।

उसे सच्चे रास्तेपर चलानेके लिये मुझसे जो कुछ बन सके करना चाहिये—यह मुझे अपना कर्तव्य प्रतीत हुआ। वह शहरसे दूर एक मुहल्लेमें एक छोटी-सी कोठरी किरायेपर लेकर उसमें रहती थी। मैंने तुरंत तो उसे इतनी ही सलाह दी कि 'तुम्हारे पास जो रुपये हैं, कोर-कसरके साथ खर्च चलानेके लिये उसमेंसे थोड़ेसे रखकर बाकी सब रुपये बैंकमें बँधी मुद्दत (Fixed deposit) के रूपमें करा दो। इसके बाद सोचकर कोई अच्छा रास्ता बताऊँगा। नगद रुपयोंको साथ लिये घूमोगी तो फिर कहीं फँस जाओगी और रहा-सहा पैसा भी खो दोगी।'

मैंने साथ जाकर उसके रुपये बैंकमें जमा करवा दिये। फिर सोचनेपर मुझे एक मार्ग दिखायी दिया। एक छोटी-सी हाउसिंग सोसायटी बन रही थी, उसमें जमीनके साथ दस हजार रुपये अंदाज लगानेपर मकान बनाया जा सकता था। उस समय जमीनमें तथा मकान बनवानेमें इतनी महँगी नहीं थी। और उसपर कुछ लॉन (उधार) भी मिल सकता था। मैंने साथ रहकर बहिनका यह काम करवा दिया। अब वह मकानकी मालकिन बन गयी। एक हिस्सेमें वह रहने लगी, और शेष हिस्सोंको किरायेपर उठाकर मासिक ८०-८५ रुपये कमाने लगी। इन रुपयोंमेंसे लॉनका ब्याज तथा किस्त चुकानेके बाद जो कुछ बचता, उससे उसका पोषण-खर्च निकलने लगा।

पाँच-सात वर्षोंमें वह बहिन ऋणसे मुक्त हो गयी और उसके मनमें उत्साह आया। अब सगे-सम्बन्धियों तथा परिचितोंके बीचमें पूर्ववत् रहनेका उसका मन हुआ। सोसायटीमें अनजान किरायेदारों तथा पड़ोसियोंके साथ रहना उसे अखरता था। उसने मुझसे यह बात कही और इसीके साथ, शहरमें एक छोटा मकान पंद्रह-सोलह हजारमें मिल रहा है, यह सूचना दी। मैंने इसका पता लगाया और उधर सोसायटीवाले मकानका ग्राहक भी खोज निकाला। इस मकानकी जितनी कीमत मिली, उतनेमें ही शहरवाला मकान मिल गया। अब वह उमंगके साथ शहरवाले मकानमें आकर रहने लगी। यहाँ भी उसे भाड़ेकी आमदनी ठीक-ठीक होने लगी।

आज वह बहिन साठपर पहुँच गयी है और न्यात-जातमें उसकी प्रतिष्ठा पुनः पूर्ववत् होने लगी है। इससे उसको आनन्दका अनुभव होता है। वह कभी-कभी मेरे यहाँ आया करती है और चाय-पानीके बाद मैं जब उसे संतोषकी डकार लेते देखता हूँ, तब मुझे भी संतोष हुए बिना नहीं रहता।'

यह वृत्तान्त एक सेवाभावी और व्यवहारकुशल वृद्ध मित्रने मुझे सुनाया। तब मेरे मुँहसे सहज ही उद्गार निकला—इस मार्गभूली बहिनको मानो सचमुच आप भगवान् ही मिल गये। (अखण्ड आनन्द)

—चु० व० शाह

श्रीकृष्ण केवल प्रेम-रूप

शुद्ध प्रेमरूप हैं केवल प्रियतम परम मधुर श्रीकृष्ण।
देते प्रेम सर्वथा अविरत लेते सदा प्रेम श्रीकृष्ण॥
कहते सुनते सदा सूँघते केवल एक प्रेम श्रीकृष्ण।
प्रेम देखते चखते करते स्पर्श प्रेम केवल श्रीकृष्ण॥
करते प्रेम-कार्य ही केवल पावन प्रेम-प्राण श्रीकृष्ण।
रहते सदा प्रेमके चाकर, नित्य प्रेम-स्वामी श्रीकृष्ण॥

× × × ×

प्रेम हटा देता दूरीको, प्रेम मिटा देता व्यवधान।
प्रेम भुला देता प्रपञ्च सब, प्रेम मिला देता भगवान॥

श्रीगीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओं-की व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। गत वर्षसे रामायण-परीक्षाओंमें पुरस्कारोंकी संख्या एवं धनकी वृद्धि भी की गयी है। परीक्षाओंके लिये स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र भी स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार किये जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ रविवार, सोमवार दि० २२–२३ नवम्बर १९६४ को एवं रामायण-परीक्षाएँ दि० ३–४ जनवरी १९६५ को होनेवाली हैं। विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—**श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून)**

बहुत दिनोंसे अप्राप्य पुस्तकका नया संस्करण

श्रीरामचरितमानस (सचित्र), मूल-मोटा टाइप, पाठभेदवाली

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ८००, मूल्य ३ रुपये डाकखर्च १ रु० ८० न० पै० कुल रु० ४.८०

प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तिम ४८ पृष्ठोंमें मानसका एक विस्तृत व्याकरण दिया गया है, जिससे श्रीगोस्वामीजीके 'मानस'का विचारपूर्वक परिशीलन करनेमें सहायता मिल सकती है। इस ग्रन्थकी पाद-टिप्पणीमें मानसके प्रसिद्ध इक्कीस संस्करणोंके मुख्य-मुख्य पाठभेद भी दिये गये हैं।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६५ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ६२ न० पै०, बढ़िया जिल्द ७५ न० पै०, डाकखर्च ७५ न० पै० अलग।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्‌की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रम-से सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्तपत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कैलेंडर, गीतामाहात्म्य, चेतावनी, नित्य गीताका मनन करें, सब समय आनन्द, कलियुगमें नाम-कीर्तनकी विशेष महिमा, निश्चिन्त हो भजनमें लग जाओ, भक्तशिरोमणि प्रह्लादका उपदेश, नीति-सूक्ति, कुछ जानने-योग्य उपयोगी बातें—जैसे रेल, डाक, तार, इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स, मृत्युकर, पुराने-नये पैसे तथा मेट्रिक माप-तौल आदिकी परिवर्तनसारिणी, दैनिक वेतन तथा मकान-भाड़ेका नकशा, अनुभूत घरेलू दवाओंके प्रयोग, स्वास्थ्य-रक्षाके सत्त सूत्र, ध्यान और आरती भी दी गयी है।

☞ गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। यहाँ आर्डर देनेके पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपका समय तथा पैसे बच सकते हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० एल्० १७५

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क

भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क

'कल्याण'का सबसे पहला विशेषाङ्क (द्वितीय वर्षके प्रथम अङ्कके रूपमें) 'भगवन्नामाङ्क' लगभग सौ पृष्ठोंका निकला था और वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ था। तबसे भगवन्नाम और प्रार्थनासम्बन्धी चर्चा 'कल्याण'में बराबर होती रही है। परंतु वर्तमान युगमें, जहाँ आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक संकटोंसे समस्त विश्व आक्रान्त है तथा मानव-जीवनकी सफलताके अभिलाषी परमार्थ-साधक भी सफलताका कोई सरल साधन नहीं पा रहे हैं,—भगवन्नाम और प्रार्थनाकी ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझा गया। भगवन्नाम तथा प्रार्थना अमोघ साधन हैं, सभी इनके अधिकारी हैं और इनके द्वारा असम्भव भी सम्भव होता है, ऐसा संतोंका अनुभव है। अतएव इस बार 'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' निकालना निश्चय हुआ है।

सदाकी भाँति लगभग सात सौ पृष्ठोंकी सर्वहितकारी सामग्री, सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र तथा परम उपयोगी निबन्ध रहेंगे। नीचे लिखे विषयोंपर तथा और भी 'नाम' तथा 'प्रार्थना' सम्बन्धी उपयोगी विषयोंपर इस अङ्कमें चर्चा की जायगी। लेखोंका चयन और सम्पादन आरम्भ हो गया है।

निवेदक, सम्पादक **'कल्याण'**

१—कलियुगमें भगवन्नामका आश्रय ही परम साधन है
२—भगवत्प्रेम और तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें भगवन्नाम प्रधान साधन
३—भगवन्नामसे सर्वार्थसिद्धि तथा परम कल्याण
४—भगवत्प्रार्थनासे लौकिक-पारलौकिक सिद्धि तथा परम कल्याण
५—भगवन्नाम भगवान् ही है
६—भगवन्नाम भगवान्से भी बढ़कर है
७—योगसाधना और भगवन्नाम एवं प्रार्थना
८—भक्तिमें भगवन्नामका तथा प्रार्थनाका स्थान
९—तपमें भगवन्नामकी आवश्यकता
१०—वेदोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना (स्तवन)
११—दर्शनोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना
१२—उपनिषदोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना
१३—इतिहास-पुराणोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना
१४—तन्त्रोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना
१५—विश्वके विभिन्न धर्मों-सम्प्रदायोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थनाकी महिमा
१६—आयुर्वेदमें नामका चमत्कार-निरूपण एवं प्रार्थना-स्तवन, मन्त्र तथा आराधनाका स्थान
१७—भगवन्नाम सर्वोत्तम प्रायश्चित्त
१८—भगवन्नाम तथा प्रार्थनामें सबका अधिकार
१९—नाम-जप-कीर्तनमें सदाचार तथा वैराग्यकी आवश्यकता
२०—मालाका स्वरूप और उपयोग
२१—नाम-जपमें विधिकी अप्रधानता
२२—नाम-कीर्तनके विविध प्रकार
२३—प्रार्थनाका स्वरूप
२४—प्रार्थनाके चमत्कार
२५—प्रार्थनाका फल और प्रभाव
२६—ऋषि-मुनियों और मुक्त महात्माओंके द्वारा नाम-गुणगान
२७—भगवन्नामसे सर्वपाप-नाश और नवीन प्रारब्धका निर्माण
२८—भगवत्प्रार्थनासे सर्वपाप-नाश और नवीन प्रारब्धका निर्माण
२९—नामका दुरुपयोग
३०—किसीके अहितके लिये नामका तथा प्रार्थनाका प्रयोग महान् अपराध
३१—विश्व-संकट-निवारण तथा विश्व-कल्याणके लिये नाम-जप-कीर्तन तथा प्रार्थनाकी उपयोगिता
३२—व्यक्तिगत और सामूहिक प्रार्थना
३३—व्यक्तिगत और सामूहिक नाम-कीर्तन
३४—विभिन्न देशोंके नाम-प्रेमी तथा प्रार्थना-प्रेमी अनुभवी भक्त
३५—नामप्रेमी तथा भगवत्-स्तुतिप्रेमी अनुभवी प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय भक्तोंके चरित्र
३६—भगवान् शिव-विष्णुकी एकता और परस्पर एक-दूसरेकी नामोपासना
३७—भगवन्नाम और वर्णाश्रमधर्म
३८—ज्ञान तथा भक्तिके महान् आचार्योंका भगवन्नाम-प्रेम